ESSAY

निबंध

Scanned by CamScanner

अच्छा-बुरा स्वयं में कुछ नहीं, हमारे विचार ही हमें अच्छा-बुरा बनाते हैं।

संत कवि तुलसीदास ने लिखा है-

"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।"

यानी जैसी जिसकी सोच होगी वैसा ही वह अपने प्रभु में देखेगा। एक भला आदमी अपने आराध्य में अच्छे गुण तलाशेगा और उनकी पूजा करेगा। इसके विपरीत एक बुरा आदमी अपने मुताबिक गुण अपने प्रभु में देखना पसंद करेगा। कुछ वैसा ही जैसे शरद के पूर्व जब आसमान में बादल तमाम तरह की आकृतियाँ बनाते-बिगाड़ते हैं, तब मनुष्य इन बादलों में अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप आकार देखता है। अच्छा या बुरा होना तो मनुष्य की मानसिकता है। एक अच्छा शोध भी अगर ग़लत हाथों में पड़ जाए तो वह उससे विनाश की ही बात सोचेगा और अच्छे हाथों में पड़ जाए तो वह उसका सकारात्मक और रचनात्मक इस्तेमाल करेगा। परमाणु ऊर्जा मनुष्य जाति के लिये जितनी खतरनाक है उतनी ही उपयोगी भी। अब यह इसके उपयोग करने के रूप पर निर्भर करता है। यदि इसका उपयोग परमाणु बम निर्माण में करें तो यह विध्वंसक परिणाम दे सकती है वहीं यदि इसे विद्युत ऊर्जा निर्माण में प्रयुक्त किया जाए तो ऊर्जा संकट का समाधान सिद्ध हो सकती है।

हिंसक वृत्ति का आदमी अपनी वृत्ति का त्याग नहीं कर पाता और अपने स्वभाव के अनुरूप वह हर आविष्कार में यही ढूंढता है। इसीलिये महात्मा गांधी ने स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते वक्त अहिंसा पर ज़ोर दिया था। अहिंसा का मतलब सिर्फ जीव के प्रति दया नहीं बल्कि अपने बुरे स्वभाव पर भी काबू पाना है। इसे यूँ कहा जा सकता है कि हिंसा का अभाव ही अहिंसा है। किसी भी प्राणी को किसी तरह का कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है और यह अहिंसा तब ही आएगी जब मनुष्य के स्वभाव में ही हिंसा का अभाव होगा। सवाल यह है कि हिंसा का भाव मनुष्य के मन में आता ही क्यों है? हिंसा का मूल स्रोत है- राग-द्वेष और मनुष्य की अनियंत्रित वासनाएँ। वासना यानी कि जगत और प्रकृति से अपरिमित सुख पाने की लालसा और इस चक्कर में वह प्रकृति का दोहन करता है और जगत की हर चीज़ पर नियंत्रण पाना चाहता है। इस वजह से उसके अंदर दूसरों से छीनने और हरण की ललक बढ़ती है। पशु की वासनाएँ सीमित हैं। वह बस आहार, निद्रा और काम तक सीमित है इसलिये उसकी वासनाएँ बस प्राकृतिक हैं और उसकी मांग भी।

हालाँकि एक बार अगर मनुष्य सहज जीवन या अच्छे विचारों वाला जीवन अपना ले तो उसे फिर कभी बुरे मार्ग पर चलने का प्रयास नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि बुरे मार्ग पर चलने के लिये निरंतर बुरा सोचना पड़ता है जबकि अच्छे और सहज विचारों के मार्ग पर चलने के लिये सायास उपाय नहीं करने पड़ते। लेकिन स्वभाव की इस वृत्ति पर नियंत्रण पाना आसान नहीं। पहले तो मनुष्य को अच्छे गुणों के लिये प्रयास करना पड़ेगा और एक बार आपके अंदर ये गुण आ गए तो फिर कभी उस मार्ग पर जाने की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होगी। लेकिन इस अच्छे मार्ग पर चलने के लिये साहस ज़रूर चाहिये और वह साहस है अंतर्मन का। जिसमें निरंतर अच्छे और बुरे विचारों के बीच द्वंद्व में अच्छे की ओर अपनी प्रवृत्ति बढ़ानी होगी। तब हर शोध और हर आविष्कार के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक हो जाएगा और विचार रचनात्मक।

DOEACLASSES

Scanned by CamScanner

अच्छा या बुरा समझ का फर्क है। वही चीज़ अच्छी हो सकती है और बुरी भी। बस श्रेणी का फर्क होगा। एक समाज के लिये जो बुरा है दूसरा समाज उसे अच्छा समझता है। मालिक के लिये कर्मचारी कामचोर है और कर्मचारी के लिये मालिक पैसाखोर। काम बराबर हो रहा है मगर समझ अलग-अलग। इसे यूँ समझा जा सकता है कि वही जीवनरक्षक दवा जो बीमारी विशेष में अमृत है अगर स्वस्थ व्यक्ति ले ले तो उसके लिये वह मृत्यु का कारण बन सकती है। पानी का अतिरेक तबाही का कारण बनता है और अगर पानी नहीं बरसे तो भी। कुछ लोग इसे अति के अतिरेक से जोड़ते हैं और मानकर चलते हैं कि *'अति सर्वत्र वर्जयेत।'* मगर अति तो दूर एक ही वस्तु के बारे में अलग-अलग नज़रिया हो सकता है। उत्पादन के साधन जिसके अधीन होते हैं उसके लिये मुद्रास्फीति मुनाफा कमाने का साधन है और जो उत्पादक शक्तियाँ हैं, पर उत्पादन के साधन उनके पास नहीं हैं उनके लिये मुद्रास्फीति महंगाई डायन बनकर आती है। तब अच्छा या बुरा बस नज़रिये का ही अंतर है। एक दृष्टि से जो अच्छा है दूसरी दृष्टि से वह बुरा। लेकिन आमतौर पर मानव समाज इसे समझता नहीं और व्यर्थ की बहस कर अपना समय और शक्ति ज़ाया करता है। कई बार समय भी अच्छा या बुरा तय करता है।

राजनीति में ही देखिये, यही राष्ट्रीयकरण एक समय में इतना पसंद किया जाता था कि इंदिरा गांधी ने एकदम से सारे बैंकों का सरकारीकरण कर दिया था और एक समय वह आया जब सरकारीकरण को अभिशाप माना जाने लगा और सरकारी तथा सरकार की देखरेख में चल रहे अर्द्धसरकारी सार्वजनिक उपक्रमों को भी निजी हाथों में बेचा जाने लगा। यहाँ तक कि हवाई सेवाओं का भी निजीकरण कर दिया गया और अब रेलवे को भी टुकड़ों-टुकड़ों में निजी क्षेत्र में देने की तैयारी चल रही है। सरकार की प्रकृति वही है, लोकतंत्र वही है पर वरीयताएँ बदल रही हैं तथा उनके गुण-दोष भी। दरअसल अच्छे या बुरे की अवधारणा आदमी के दिमाग में होती है और वह हर चीज़ को अपने दृष्टिकोण से देखता है। जिसका दृष्टिकोण सकारात्मक होगा उसे वही चीज़ सकारात्मक और ऊर्जावान लगेगी जो अगले आदमी को नकारात्मक लग सकती है। आप कोई भी लेख अथवा रिपोर्ट लिखें हर व्यक्ति उसे अलग-अलग नज़रिये से देखेगा और उस पर अपनी प्रतिक्रिया देगा। अपराध से जुड़ी हर खबर को पुलिस का आदमी गलत बताएगा तो जनता उसे सही। कोई कितना भी पीड़ित क्यों न हो थाने में रिपोर्ट लिखने वाला सिपाही उस पर कतरब्योंत करेगा ही। अब ऐसा नहीं कि पुलिस वाला गड़बड़ ही होगा और पीड़ित झूठ ही बोल रहा होगा। दरअसल पीड़ित चाहे कितना सच बोले पुलिस की ट्रेनिंग ही इस तरह हुई है कि वह उसे सिरे से खारिज करेगा और पीड़ित पर ही शक करेगा। ऐसा कहा जाता है कि पुलिस की नज़र में हर आदमी अपराधी है और एक सज्जन व्यक्ति की नज़र में अपराधी भी इंसान। दोनों के सोचने के नज़रिये अलग जो होते हैं। एक अपराधी भी इंसान होता है। उसके अंदर भी वे सारे सद्गुण होते हैं जिनसे कोई व्यक्ति महान बनता है और एक सज्जन आदमी के अंदर भी कई अवगुण होते हैं।

बस देखना यह है कि उसके अंदर के कौन-से गुण किन गुणों पर हावी हो गए अगर अवगुण हावी हो गए तो कोई भी आदमी बुरा बन सकता है और इसकी विपरीत स्थिति में वह महान बन सकता है। गांधी जी ने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक बार उन्होंने अपने पिता का कुछ सोना चुराया था लेकिन इसके बाद उनके मन में इतना प्रायश्चित हुआ कि उन्होंने पिता से माफी मांगने की ठानी। पिता से रूबरू होकर कहने की हिम्मत नहीं पड़ी तो उन्होंने लिखकर माफी मांगी। पिता ने माफ कर दिया और इसका इतना अधिक असर उन पर पड़ा कि उन्होंने सदा-सदा के लिये चोरी नहीं करने और झूठ न बोलने की कसम खा ली। यही आदमी की प्रवृत्ति है। अगर वह साहस दिखाकर अपने अवगुणों को दबा लेता है तो उसे आदर्श बनने से रोका नहीं जा सकता।

इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अच्छा या बुरा मानव स्वभाव है। यह अपने आप में कोई विशेषण नहीं है। एक ही चीज़ किसी की नज़र में अच्छी और दूसरे की नज़र में बुरी होती है। इसलिये किसी उत्पाद या वस्तु अथवा विचार को हम अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। अच्छा या बुरा उसे धारण करने वाले के मन में होता है। एक व्यक्ति पत्थर में मूरत देखता है तो दूसरा उसे पत्थर मानता है। एक ऊर्जा के ज़रिये विद्युत निर्माण करता है तो दूसरा परमाणु बम बनाकर विध्वंस की तैयारी करता है। इसलिये सिर्फ उत्पाद देखकर उसे अच्छा या बुरा बता देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं। ■■■

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

सफलता के मानक समय के साथ बदल जाते हैं।

"सफलता ऐसे ही नहीं मिलती है
उसके लिये कुछ छोड़ना पड़ता है, कुछ छीनना भी
पहले अपने-आपको सफलता के लिये
सुपात्र बनाना पड़ता है
जिसमें उचित जगह पर रिरियाने की,
उचित जगह पर हँसने की,
उचित जगह पर तारीफ करने की,
उचित जगह पर निंदा करने की,
उचित जगह पर चीखने की भी
समझ और आदत विकसित करनी पड़ती है
जिसमें शुरू में तकलीफ होती है
लेकिन बाद में सब ठीक हो जाता है।"

निश्चय ही सफलता के मानक समय के साथ बदलते रहे हैं। ऐसा स्वाभाविक भी है क्योंकि सफलता जीवन के लक्ष्य एवं उद्देश्य से संबंधित है। यही नहीं व्यक्ति के एक ही जीवन में समयानुकूल लक्ष्य का परिवर्तन होता रहता है। आज जब शक्ति, धन हमारी सभ्यता में सफलता के प्रतिमान हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि ये शाश्वत प्रतिमान रहे होंगे, पर ऐसा नहीं था। आदिमानव के सामने भूख, भय और सुरक्षा का प्रश्न था। शिकार करने का कौशल और आत्मरक्षा की तकनीकों में दक्षता उस युग की सफलता का पैमाना रही होगी। धीरे-धीरे मानव यात्रा और आगे बढ़ी तो शारीरिक बल और हथियार के प्रयोगों की कुशलता प्रतिमान होने लगे। प्रारंभिक पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्री की सफलता पति को संतुष्ट रखने एवं पुत्र उत्पन्न करने तक सीमित कर दी गई। धीरे-धीरे सभ्यता का प्रकाश जब फैला तो ज्ञान, आध्यात्मिक उत्कर्ष, राजत्व का विस्तार, बाहुबल, धन-बल, शस्त्र-शास्त्र में निपुणता वगैरह सफलता के मानक होने लगे। प्राचीन युग में सफलता का उत्कर्ष था- साम्राज्य निर्माता होना। हालाँकि सफलता के मानक प्रत्येक समुदाय के लिये अलग-अलग ही थे पर उसका चरम उत्कर्ष सम्राट होना ही था। इस युग में प्रत्येक राष्ट्र में अध्यात्म एवं ज्ञान की खोज में जुटे हुए लोग होते थे। भारत में यदि पौराणिक राजाओं पृथु, बेन, नहुष, इक्ष्वाकु, दिलीप आदि के कार्यों का वर्णन है तो उससे अधिक वशिष्ठ, गौतम, विश्वामित्र आदि ऋषियों का महत्त्व दिखाया गया है। वैसे भी भारत की वर्णव्यवस्था में ज्ञान को शक्ति के ऊपर स्थान दिया गया था और धन को तीसरे स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया था। यूनान की स्थिति भी ज़्यादा भिन्न न थी यदि वहाँ हरक्यूलिस, अकिलीज़ को प्रतिष्ठा मिली तो होमर एवं सुकरात कम ख्याति प्राप्त नहीं हुए।

भारतीय सिनेमा जगत में भी कई पुरुषों ने केवल शरीर सौष्ठव से जुड़ी लोकप्रियता के कारण सफलता के झंडे गाड़े हैं जैसे- धर्मेंद्र, सलमान खान, जॉन अब्राहम आदि। ध्यान देने की बात है शरीर सौष्ठव में शारीरिक बल की मांग अनिवार्य नहीं है, सिर्फ सौष्ठव की मांग ही महत्त्वपूर्ण है। आज पैसा, पावर (शक्ति) एवं पद सफलता के तीन सबसे बड़े मानक हैं। आज का समय बाज़ार एवं उपभोक्तावाद से संचालित है। पैसा इसके केन्द्र में है शक्ति एवं पद भी

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

अंततः उसके ही विस्तार हैं। फिर भी यह अधिकांश का सच है, 'सबका' सच नहीं है। अभी भी ज्ञान, सम्मान, प्रतिष्ठा, उदारता, त्याग जैसी चीज़ें बिल्कुल ही विलुप्त नहीं हो गई हैं। प्रतिभा के मानक की बिल्कुल ही उपेक्षा नहीं हो रही है। यदि मुकेश अंबानी 'सफल' हैं तो अब्दुल कलाम एवं बाबा साहेब आम्टे भी सफल थे। उनकी इस सफलता को जनसमर्थन भी मिला। सफलता के लिये आमतौर पर छल-छद्म का सहारा लेना आज आम है, पर आज भी ऐसे हज़ारों लोग हैं जो समष्टि के लिये अपना पूरा जीवन लगा दे रहे हैं। फिर भी येन-केन-प्रकारेण पैसा-पावर-पद को प्राप्त करना आज की सफलता का सामान्य मानक हो गया है।

इस प्रगतिशील संसार में सफलता के मानकों का बदलते जाना स्वाभाविक है, हमारे अपने मानक भी तो जीवन भर बदलते रहते हैं। हम छोटे बच्चे होते हैं तो खेल में, दौड़ में, कुश्ती में, रटने में, सीखने में मिली छोटी-छोटी सफलताएँ हमें आह्लादित करती हैं। 'जीतना' आमतौर पर बचपन में सफलता का मानदंड होता है। थोड़ा और बड़े होते हैं तो अच्छे अंक लाना, वज़ीफे प्राप्त करना, प्रवेश परीक्षाएँ निकालना हमारी सफलता के मानकों में शामिल हो जाता है। युवा होते ही दुनिया हमसे पद, प्रतिष्ठा, पैसे, शक्ति की अपेक्षा में लग जाती है। नौकरियाँ प्राप्त करना, व्यवसाय में सफल रहना, राजनीति या वकालत के धंधे में चमकना अथवा बाहुबल या संपर्कों की सहायता से धन की प्राप्ति करना सफल होने के तरीके माने जाते हैं। अगर आप ज़्यादा महत्त्वाकांक्षी नहीं हैं तो महज़ नौकरी प्राप्त कर लेने भर से सफल मान लिये जाएंगे, आप किसान हैं तो अच्छी पैदावार उत्पन्न करना आपकी सफलता का मानक होगा, आप आध्यात्मिक नेता हैं तो ज़्यादा से ज़्यादा अनुयायी होना और नेता हैं तो चुनाव जीतना सफलता का मानक हो सकता है। यदि आप पारिवारिक जीवन में हैं तो पारिवारिक जीवन की शांति भी सफलता का मानदंड हो सकती है। व्यक्तियों की तरह राष्ट्रों एवं समाजों के भी मानक बदलते रहते हैं। पहले वह सफल राष्ट्र होता था जिसके पास ज़्यादा साम्राज्य हो और आज वह राष्ट्र सफल है जो आर्थिक एवं वैज्ञानिक ताकत में अव्वल हो। इसलिये कल का सफल राष्ट्र ब्रिटेन था और आज का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका है। समय के साथ दुनिया की नज़र में सफलता के मानक यूँ बदल जाते हैं जैसे आजकल के फैशन के मानदंड। अगर हम परिवार की बात करें तो पहले अच्छे पिता वे होते थे जिनका कड़ा शासन अपने पाल्यों पर चल सके। पर मानक बदले हैं अब बच्चों के साथ मित्रतापूर्ण रहकर उनकी प्रतिभा निखारने वाले अभिभावक ज़्यादा सफल माने जा रहे हैं। हमारे खुद के मानदंड जीवन में बदलते रहते हैं सफलता के बारे में। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मानसिक विकास एवं आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे सफल होने के मायने बदल जाते हैं। किसी प्रकाश आम्टे एवं मंदाकिनी आम्टे के लिये दुनिया से बीमारी एवं दुःख-दर्द हटाना सफलता का पर्याय हो सकता है पर यदि किसी विनोद कुमार ओझा की सफलता अपने परिवार की सुख-समृद्धि तक सीमित है तो उसे हम गलत या हीन नहीं ठहरा सकते क्योंकि वह आम्टे दंपत्ति या ओझा परिवार का अपना चयन है।

दुनिया की नज़रों में भले ही ज़्यादातर सराहना पद, पैसे, प्रतिष्ठा, शक्ति को मिलती है, पर ऐसा नहीं है कि वास्तविक त्याग एवं परहित का जीवन जीने वालों के लिये सम्मान कभी कम था या अभी कम हो गया है। अगर ऐसा होता तो कक्षा 8 पास अन्ना हज़ारे को देशभर में इतना सहयोग व सम्मान न मिला होता। एक बार फिर कलाम के उदाहरण को लें उन्होंने अपना पूरा जीवन राष्ट्र एवं समष्टि को समर्पित कर दिया। क्या उनसे अधिक सफल एवं सार्थक जीवन की कल्पना की जा सकती है? वस्तुतः जीवन की सार्थकता को सफलता के प्रश्न से जोड़कर देखा जाना ही चाहिये। एक किसान जीवन भर हाड़-तोड़ मेहनत करते हुए अन्न उपजाता है, खुद का पेट भरता है और दूसरे 10 लोगों का भी। उसे कोई नहीं जानता, आजीवन न वह पैसा इकट्ठा कर पाता है, न ही पद अर्जित कर पाता है, पर उसका जीवन सार्थक है। क्या जीवन की सार्थकता सफलता का सबसे बड़ा मानदंड नहीं हो सकता? वस्तुतः केवल समय के साथ ही सफलता के मानक नहीं बदलते। एक ही समय में सफलता के असंख्य मानक उपस्थित रह सकते हैं; जैसे यह सच है कि आज की उत्तर आधुनिक दुनिया में भी प्रागैतिहासिक, दास युगीन, सामंतकालीन, पूंजीपति युगीन जीवन भी साथ-साथ चल रहा है। हम साधारणीकरण द्वारा युग की मुख्य प्रवृत्तियों को ही एकमात्र सच मान लेते हैं और यह सांख्यिकीय दृष्टिकोण हमेशा सच की ओर ही ले जाए, इसकी संभावना कम होती है। दुनिया में अच्छे-बुरे, सत्य एवं असत्य, सृजन एवं विनाश का संघर्ष हमेशा चलता रहता है। यह भी सच है कि सत्ता का विचार हमेशा ज़माने का

DOEK CLASSES

Scanned by CamScanner

विचार मान लिया जाता है और आम लोग उस विचार से चिपक जाना चाहते हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश बंधे-बंधाए तरीकों के बारे में विचार नहीं करते। कवि मुक्तिबोध की यही चिंता है-

"बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित सफलता,
अति भव्य असफलता
अतिरेकवादी पूर्णता
की ये व्यथाएँ बहुत प्यारी हैं।"

सफलता के मानक भी हमेशा सापेक्षिकता के सिद्धांत का पालन करते हैं। जो आज हमारे लिये सफलता बताई जाती है वह हो सकता है कल समय के साथ असफलता में गिनी जाने लगे। ग्लैडिएटर युग में जो कुश्तियाँ होती थीं उसमें अत्यधिक आक्रामकता, हिंसा, क्रूरता को सफलता का मानक माना जाता था पर क्या पेशेवर कुश्ती एवं मुक्केबाज़ी में आज भी यह मानक है? बेचारे माइक टाइसन 'सिर्फ' कान काटकर ही बदनाम हो गए क्योंकि वे भूल गए कि वे ग्लैडिएटर युग में नहीं हैं, आधुनिक विश्व में सभ्य लोगों के बीच मुक्केबाज़ी कर रहे हैं। ऐसे ही क्रिकेट को ले लें। एक युग था कि सही बल्ला चलाना (बिल्कुल किताबी शॉट्स) ठोस बल्लेबाज़ी का पर्याय था और 'क्रॉस बैट' खेलना क्रिकेटीय अनुशासन को भंग करना माना जाता था, जिसके लिये जानकारों की भर्त्सना मिलती थी, पर आज ए.बी. डिविलियर्स को खेलते देखें। वह आज क्रिकेट का सुपरमैन माना जाता है, किसी कथित शुद्धतावादी समीक्षक से उसके बारे में पूछकर देखें। कुछ ऐसी ही बात एशियाई हॉकी के लिये भी थी; क्या खूबसूरत 'ड्रिबलिंग' करते थे भारतीय उपमहाद्वीप के खिलाड़ी। पूरी दुनिया में भारतीय हॉकी की धमक थी पर एस्ट्रोटर्फ व हॉकी के नए फॉर्मेट के बाद यह ड्रिबलिंग हमारी कमज़ोरी बन गई और हमें अब विदेशी कोच सिखा रहे हैं। आज कोई यदि ड्रिबलिंग की बात करे तो निश्चय ही उसे प्रतिभागी विचारक माना जाएगा। हमारे शिक्षालयों को ही ले लें, जहाँ पहले भीषण रूप से कठिन पहाड़े रटाए जाते थे। चतुर सुजान-वरिष्ठ लोग 17 या 37 के पहाड़े बेचारे बच्चों से सुनने लगते थे यदि बच्चों ने बतला दिया तो उनके सुनहरे भविष्य की संभावना पर करारी मुहर मार दी जाती थी वरना बता दिया जाता था *"बेटा पढ़ाई-लिखाई तुम्हारे वश की नहीं, गोबर ढोओ, हल जोतो"*, पर आज पहाड़ा सुनने वाले चतुर सुजान लोग हमारे 'स्मार्ट बच्चों' के सामने आ तो जाएँ। उनकी जो क्लास लगेगी कि वे 'ओ' लेबल से लेकर 'सी' तक का कोर्स करते हुए दिखाई देंगे। वस्तुतः इसी तरह के बदलाव प्रत्येक पेशे या संस्थाओं में भी हुए। सौ साल पहले 100 मीटर की दौड़ का विश्व चैंपियन आज महिलाओं की दौड़ में भी फिसड्डी रहेगा। जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ी है मानक भी पुनरीक्षित-परिशोधित होते चले गए हैं।

यदि किसी को चित्र बनाने में रुचि है तो उसके लिये आदर्श मानक पिकासो होंगे, वान गॉग होंगे; अगर कोई संगीतकार है तो उसके मानक बाख होंगे, बीथोविन होंगे; किसी को साहित्य में रुचि है तो वह टैगोर होना चाहेगा, प्रेमचंद होना चाहेगा; अगर कोई विज्ञान में रुचि रखता है तो आइंस्टीन या रमन उसके मानक व आदर्श हो सकते हैं। अगर कोई अच्छा मिस्त्री बनना चाहता है तो वह किन्हीं प्रसिद्ध चुन्नू मिस्त्री को ही मानक बना सकता है। ज़ाहिर है जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के मानक कुशलता एवं उसके प्रतिफल से तय होते हैं। मान लीजिये कोई नाई है तो ज़रूरी नहीं उसने जावेद हबीब का नाम सुना हो वह किसी स्थानीय दुलारे नाई को अपनी सफलता का मानदंड बना सकता है, ऐसा करते हुए उसे गर्व होगा। ज़ाहिर है सफलता के मानक देश, काल, पेशों, उम्र के दायरों, संस्कृतियों वगैरह-वगैरह से प्रभावित होते हैं। समय की गति की तरह वे भी परिवर्तित होते रहते हैं। वास्तव में वे मानवीय आकांक्षा के साथ नाभिनालबद्ध होते हैं, जैसे-जैसे मानवीय आकांक्षाओं में परिवर्तन होता है, सफलता के मानक भी बदल जाते हैं। पृथ्वी पर देशकाल, जाति, वर्ग, क्षेत्र, उम्र, व्यवसाय इत्यादि के अनुसार मानवीय आकांक्षाएँ भी अलग-अलग हैं, ज़ाहिर है सफलता के मानंदड भी अलग-अलग होंगे, इसलिये यह बिल्कुल स्वाभाविक एवं मानवीय भी है कि सफलता के मानक समय के साथ बदलें और ऐसा होता भी रहा है। ■■■

DOEACLASSES

Scanned by CamScanner

भ्रष्टाचारः चुनौतियाँ एवं समाधान।

"50 साल से अधिक आयु वाले तीन व्यक्तियों को ईश्वर ने दर्शन दिये। इन तीनों में एक अमेरिकी, एक चीनी और एक भारतीय था। तीनों ने ईश्वर से एक-एक प्रश्न पूछा। पहला नंबर अमेरिकन का था। अमेरिकी ने पूछा कि गॉड, मेरे देशवासी 'चांद' पर रहना कब शुरू करेंगे? ईश्वर ने जवाब दिया 100 साल बाद। यह सुनकर अमेरिकी रोने लगा और बोला, "यह देखने के लिये तो मैं ज़िन्दा ही नहीं रहूंगा।" इसके बाद चीनी की बारी आई। चीनी ने पूछा कि लॉर्ड, मेरा देश वास्तव में विकसित देश कब कहलाएगा? ईश्वर ने जवाब दिया, 75 साल बाद। यह सुनते ही चीनी ज़ार-बे-ज़ार रोने लगा और बोला, "यह देखने के लिये तो मैं ज़िन्दा ही नहीं बचूँगा।" अब भारतीय की बारी थी। भारतीय ने कहा कि हे भगवन्, मैं रोज़ सुबह उठता हूँ तो आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे साँप और सरकारी दफ्तर के दर्शन न हों क्योंकि साँप के डसने से मरने का खतरा है तो सरकारी दफ्तर में जाने पर ज़िंदगी के उलझ जाने का खतरा है। इसलिये हे सर्वज्ञानी, आप बस हमें ये बता दें कि हमारे देश से 'भ्रष्टाचार' कब दूर होगा? यह सुनते ही ईश्वर दहाड़ें मारकर रोने लगा। अमेरिकी, चीनी, भारतीय तीनों यह देखकर हैरान-परेशान थे कि आखिर यह क्या हुआ? तभी ईश्वर बोले, पता नहीं, यह देखने के लिये मैं भी रहूंगा या नहीं।" कहने को महज़ यह एक व्यंग्य या रूपक लगे किन्तु सवाल यह है कि क्या सच में भ्रष्टाचार भारत का स्थायी भाव बन चुका है? ऋषि-मुनियों, साधु-संतों और बुद्ध-गांधी के इस देश में भ्रष्टाचार का तांडव आश्चर्य में ज़रूर डालता है। परन्तु आज यह हिन्दुस्तान का क्रूर यथार्थ है।

आज़ाद हिन्दुस्तान की तकदीर में भ्रष्टाचार का दीमक कुछ इस तरह समाया है कि आज जीवन, समाज और सरकार का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा जो सुरक्षित हो। संसद से सड़क तक, मंदिर से दफ्तर तक तथा आम आदमी से खासोखास तक, जिसको जहाँ मिलता है लूटने में लगा है। 1 लाख 76 हज़ार करोड़ रुपये का 2-G घोटाला, 1 लाख 86 हज़ार करोड़ रुपये का कोयला घोटाला, 2300 करोड़ रुपये का राष्ट्रमंडल खेल घोटाला, 900 करोड़ रुपये का चारा घोटाला, 400 करोड़ रुपये का आईपीएल घोटाला, आदर्श सोसाइटी घोटाला, बोफोर्स तोप घोटाला, रक्षा खरीद घोटाला, ताबूत घोटाला आदि तथा विदेशी बैंकों में पड़ा 120 लाख करोड़ रुपये का काला धन क्या साबित करता है? जनप्रतिनिधि सरकारी ठेके के नाम पर ठगता है, न्यायाधीश गलत न्याय के नाम पर लूटता है, पत्रकार खबर दबाने तथा झूठे प्रचार के नाम पर मालामाल होता है तो सरकारी बाबू, इंजीनियर, पुलिस, क्लर्क और चपरासी दफ्तर में लोगों से घूस लेते हैं। शिक्षाविद् शिक्षा बेचने पर उतारू है, पुजारी मंदिर-आस्था और भगवान बेचने पर उतारू है, डॉक्टर इंसान बेचने पर उतारू है तो न्यायाधीश ईमान बेचने पर। कोई दहेज़ से कमाता है तो कोई चापलूसी और दलाली से। यानी *'सर्वे भवन्तु भ्रष्ट अस्ति'*। भ्रष्टाचार के इस दौर में धनवान इतराता है, बुद्धिजीवी खामोश है, मीडिया बिका हुआ है तथा आम जनता त्रस्त है। भ्रष्टाचार ने ऐसी सेंधमारी की है कि *'Honesty is the best policy'* का जीवन-मूल्य भी धराशायी हो गया है। आज ईमानदार वही है जिसको लूटने का मौका नहीं मिला वरना इस हमाम में सभी नंगे हैं। धन की कु-संस्कृति का ऐसा नंगा नाच भारत ने अपने हज़ारों साल के इतिहास में कभी नहीं देखा। क्या यही भारत की नियति होनी चाहिये? क्या यही गांधी, अंबेडकर और भगत सिंह के सपनों का भारत है?

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

भ्रष्टाचार एक बहुआयामी अवधारणा है। सामान्य शब्दों में भ्रष्टाचार को बुरा या बिगड़े हुए आचरण से रूपायित किया जाता है। वैसा आचरण जो अनैतिक और अनुचित हो। इस कसौटी पर तो बलात्कार भी भ्रष्टाचार ही माना जाएगा, पर ऐसा नहीं है। समाज विज्ञानियों के अनुसार भ्रष्टाचार में धन की उपस्थिति और सार्वजनिक पद का दुरुपयोग अनिवार्य है। यानी निजी लाभ के लिये सार्वजनिक शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना जिससे कानून भंग होता हो या समाज के मानदंडों का विचलन होता हो उसे भ्रष्टाचार कहते हैं। किन्तु इतने भर से भ्रष्टाचार परिभाषित नहीं हो जाता है। क्या परीक्षा में शिक्षक द्वारा नकल करवाना, कॉपी में परीक्षक द्वारा अंक बढ़ाया जाना भ्रष्टाचार नहीं है? भले इसमें धन की उपस्थिति न हो बल्कि यह एहसान भर हो, परन्तु इस प्रकार का एहसान भी भ्रष्टाचार ही कहा जाएगा, क्योंकि इसमें सार्वजनिक पद का दुरुपयोग शामिल है। क्या क्लर्क-चपरासी-अधिकारी या शिक्षक-प्रोफेसर द्वारा अटेंडेंस लगाने के बाद भी अपने कार्य से गायब रहना भ्रष्टाचार नहीं है? बिलकुल है, क्योंकि यह भी सार्वजनिक पद का दुरुपयोग ही है। भोजन में मिलावट या नकली दवाएँ बेचना भी भ्रष्टाचार ही है क्योंकि यह लोक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। दहेज़ लेना भी भ्रष्टाचार ही है क्योंकि इससे सामाजिक नैतिक मूल्य का क्षरण होता है। इस प्रकार, मामलों के निस्तार में विलम्ब भ्रष्टाचार है, कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को अधिकार के रूप में प्रदर्शित करना भ्रष्टाचार है, निर्णय लेने में देरी या आनाकानी करना भ्रष्टाचार है, जाति-पंथ-गोत्र-मूल-लिंग या वंश के आधार पर पक्षपात करना भ्रष्टाचार है, तथा उत्तरदायित्व को स्वीकारने से भागना भ्रष्टाचार है। अत: नि:संदेह भ्रष्टाचार के विविध आयाम हैं जिसे परिभाषित करना मुश्किल है।

भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी तथ्य है। यह अनंत समय से प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। प्राचीन मिस्र, यूनान, बेबिलोनिया और रोमन समाजों में न्यायाधीशों एवं राज्याधिकारियों को रिश्वत दी जाती थी। मध्यकाल में रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा अनुग्रह का शुल्क लेने की प्रथा को मार्टिन लूथर किंग द्वारा भ्रष्टाचार की संज्ञा दी गई थी। भारत में कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में 50 प्रकार के गबन और भ्रष्ट तरीकों का वर्णन किया है। मध्यकाल में भी अलाउद्दीन खिलज़ी, मोहम्मद बिन तुगलक तथा औरंगज़ेब द्वारा रिश्वत रोकने के अनेक उपायों का ज़िक्र मिलता है। आधुनिक ब्रिटिश काल में तो पूरी की पूरी 'ड्रेन ऑफ वेल्थ' थ्योरी ही अंग्रेज़ों के भ्रष्टाचार का नायाब नमूना पेश करती है। यहाँ पुलिस, सरकारी अफसर, न्यायाधीश या व्यापारी की कौन कहे, क्लाइव और वॉरेन हेस्टिंग्स जैसे गवर्नर जनरल भी इतने भ्रष्ट थे कि इनके इंग्लैंड लौटने पर भी इनपर मुकदमा चला। आगे प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लगाए गए प्रतिबंधों, नियंत्रणों और सख्ती ने ऐसा अभाव उत्पन्न किया कि रिश्वत, पक्षपात और भ्रष्टाचार के लिये स्कोप बनता चला गया। हालाँकि आम भारतीय जनता अभी भी वैसी भ्रष्ट नहीं हुई थी। इसी बीच राजनैतिक आकाश पर गांधी जैसे ध्रुव तारे के आगमन ने एक बार फिर से स्वच्छ आदर्श और भारतीय नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की। यद्यपि गांधी का यह आदर्श उच्च राजनैतिक अभिजात्य वर्गों में लगभग तीन चुनावों तक कायम रहा, लेकिन 70 के दशक से इसमें भारी गिरावट दर्ज हुई। इंदिरा गांधी के शासन काल से जो संस्थागत राजनैतिक भ्रष्टाचार का आगाज़ हुआ वह लगभग 25 लाख करोड़ रुपये के घोटालों के बावजूद आज भी बदस्तूर जारी है। यह सही है कि भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी सच्चाई है किन्तु भारत जैसी वीभत्स स्थिति बहुत कम देशों में है। 168 देशों के भ्रष्टाचार सूचकांक में भारत 76वें स्थान पर है। आज भारत में मंत्री से लेकर संतरी तक बेईमान नज़र आते हैं, और यहाँ हद ये है कि भ्रष्टाचार का आरोप साबित होने के बाद भी किसी को सज़ा नहीं मिलती है। अमेरिका में वाटरगेट कांड के बाद राष्ट्रपति निक्सन को अपना पद छोड़ना पड़ा था। लेकिन भारत में कितने ही घोटाले साबित हो गए पर कोई सरकार नहीं गिरी। एक अंतर यह भी है कि विकसित देशों में उच्च स्तरीय व्यापार या खरीददारी में ही भ्रष्टाचार है जबकि भारत में रेल आरक्षण से लेकर सिनेमा का टिकट खरीदने तक में, बच्चों को प्राथमिक स्कूल से लेकर सरकारी कॉलेजों में एडमिशन तक में तथा सरकारी अस्पताल के बिस्तर से लेकर गैस सिलेंडर खरीदने तक में हर जगह घूस देना पड़ता है। यानी अन्य देशों में अवैध या गैरकानूनी चीज़ों के लिये भ्रष्टाचार होता है परन्तु भारत में वैध या आधिकारिक चीज़ों के लिये भी पैसा दिया जाता है। एक समय था कि रिश्वत गलत कार्यों को कराने के लिये दी जाती थी लेकिन अब सही कार्य को सही समय पर कराने के लिये भी रिश्वत देनी पड़ती है। अत: भारत में भ्रष्टाचार एक नासूर बन चुका है, इसलिये प्रश्न लाज़िमी है कि भ्रष्टाचार होता क्यों है?

DOFC CLASSES

Scanned by CamScanner

भ्रष्टाचार की शुरुआत लोभ से होती है और नाजायज़ धन-अर्जन के बावजूद भी इसका समापन नहीं होता, क्योंकि लोभ बढ़ता ही जाता है। भ्रष्टाचार के कारणों में स्वार्थ, आर्थिक विषमता, असंतोष, भाई-भतीजावाद तथा नैतिक मूल्यों का ह्रास शामिल है। कुछ अन्य कारणों में लालफीताशाही, सरकार की आर्थिक नीतियाँ, आवश्यक वस्तुओं की कमी, वैश्वीकरण- उदारीकरण के कारण उपभोगतावादी संस्कृति में वृद्धि तथा चुनावी खर्च का बढ़ता स्तर ज़िम्मेदार हैं। अंग्रेज़ी में एक कहावत है *"where there is big money, there is big corruption"* यानी जहाँ अत्यधिक धन है वहाँ सर्वाधिक भ्रष्टाचार होगा। केंद्र सरकार में कम-से-कम चार ऐसे मंत्रालय हैं जो धन-अर्जन के लिये सोने की खान माने जाते हैं- रक्षा, पेट्रोलियम, ऊर्जा और संचार मंत्रालय। चार अन्य विभाग हैं जहाँ भ्रष्टाचार अतिव्याप्त है- पी.डब्ल्यू.डी., पुलिस, एक्साइज और राजस्व विभाग। आज़ादी के बाद से अभी तक हुए कुल 25 लाख करोड़ रुपये के भ्रष्टाचार की फेहरिस्त देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि भारत एक गरीब देश है। आँकड़ों में तो भारत लगभग 8% की तीव्र विकास दर से वृद्धि करने वाला अव्वल देश है लेकिन ज़मीनी हकीकत इससे बिलकुल भिन्न है। वर्ष 2013-14 में केंद्र और राज्यों की सामाजिक कल्याण योजनाओं पर कुल ₹ 17 लाख करोड़ खर्च हुए। ज़िलों के हिसाब से देखें तो यह राशि हर ज़िले के लिये औसतन 2656 करोड़ रुपये बैठती है। यह केवल एक साल का हिसाब है जबकि योजनाएँ दशकों से चल रही हैं, फिर भी वैसा विकास क्यों नहीं नज़र आता? स्पष्ट है कि आँकड़ों में तो मनरेगा, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, ग्रामीण विद्युतीकरण, सर्व शिक्षा अभियान, मिड डे मील और समेकित बाल विकास जैसी योजनाएँ हिट हैं पर वास्तव में ये भ्रष्टाचार के अड्डे बने हुए हैं। सच ही कहा गया है कि-

"तुम्हारी फाइलों में गाँव का मौसम गुलाबी है
मगर ये आँकड़े झूठे हैं ये दावा किताबी है"

भ्रष्टाचार ने हमारे समाज को कई प्रकार से प्रभावित किया है। सरकारी आँकड़े चाहे कुछ कहें पर भ्रष्टाचार ने देश के आर्थिक विकास को अवरुद्ध किया है। इसने समाज में हिंसा और अराजकता को जन्म दिया। इससे नैतिकता का स्तर गिरा है वैयक्तिक चरित्र नष्ट हुआ है। इसने जनता की नज़र में अफसरों की विश्वसनीयता को घटाया है तथा सरकार को अस्थिर बनाया है। भ्रष्टाचार ने अकुशलता और अनुशासनहीनता को बढ़ाया है तथा अंततः आम आदमी का जीवन कष्टप्रद कर दिया है। हद की बात यह है कि भ्रष्टाचार सर्वग्रास करता जा रहा है फिर भी हमारे देश में बस लंगड़े लोकपाल और गूंगे-बहरे आरटीआई एक्ट जैसी कृत्रिम लड़ाई की वकालत से ही इसके खात्मे की बात की जाती है। दरअसल भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिये जिस दृढ़ राजनैतिक इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है वो हमारे नेताओं के पास है ही नहीं। इनके लिये बस भ्रष्टाचार चिंता का विषय है, लेकिन उस चिंता में संजीदगी बिलकुल नहीं है। जिस देश की संसद में ही एक तिहाई सांसद भ्रष्ट हों वहाँ तो अदम गोंडवी की ये पंक्तियाँ बिलकुल सही प्रतीत होती हैं कि-

"आँख पर पट्टी रहे और अक्ल पर ताला रहे
अपने शाहे-वक्त का यूँ मर्तबा आला रहे
तालिबे-शोहरत है कैसे भी मिले मिलती रहे
आए दिन अख़बार में प्रतिभूति घोटाला रहे
एक जनसेवक को दुनिया में 'अदम' क्या चाहिये
चार छह चमचे रहें माइक रहे माला रहे।"

फिर भी यह यक्ष प्रश्न है कि भ्रष्टाचार से उबार कैसे संभव है? भ्रष्टाचार का जितना लम्बा वितान है वैसे में लंगड़े लोकपाल और बहरे आरटीआई एक्ट से इसका निराकरण संभव नहीं है। दरअसल इसके लिये भ्रष्टाचार की मूल जड़ पर प्रहार करना ज़रूरी है, और वह है आर्थिक विषमता, उपभोक्तावादी संस्कृति तथा नैतिक ह्रास। ग्लोबल वेल्थ डाटा बैंक की ताज़ा रिपोर्ट (2015) के अनुसार देश की कुल संपत्ति में गरीब आबादी का हिस्सा महज़ 0.2 फीसदी है। यह स्थिति तब है जब दुनिया की कुल कंगाल आबादी का 20% हिस्सा अकेले भारत में है। फोर्ब्स की ताज़ा सूची के मुताबिक हमारे देश में अरबपतियों की संख्या पहली बार सौ से ऊपर पहुँच गई है, वहीं अंतर्राष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान द्वारा

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

जारी 76 देशों के भूख सूचकांक में भारत का स्थान 55वाँ है। यानी आज भी भारत की लगभग एक-चौथाई आबादी भर पेट भोजन को तरसती है। दूसरी बात यह है कि देश में संसाधन सीमित हैं जबकि उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है, इसलिये जब तक असीमित उपभोग की छूट रहेगी, तब तक लूट की प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता है, इसलिये आर्थिक विषमता की खाई को पाटने के लिये माकूल आर्थिक नीतियों का निर्माण व उनका सही क्रियान्वयन तथा सोशल ऑडिट ज़रूरी है, और प्राकृतिक संसाधनों के समान वितरण एवं उपभोग हेतु समुचित निगरानी तंत्र बनाना आवश्यक है।

इसके अलावा संदिग्ध अधिकारियों को संवेदनशील पदों से दूर रख, उदारवादी नीतियों को सावधानी से लागू किया जाए तथा नियमों के उल्लंघन पर त्वरित व उचित दंड का प्रावधान सुनिश्चित किया जाए तो बहुत हद तक भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाया जा सकता है। हालाँकि ये सारे उपाय भी नाकाफी सिद्ध होंगे यदि समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना न की जा सके। भले हम गरीबी मिटा दें लेकिन लोभ संवरण तो नैतिक आदर्शों की मज़बूती से ही संभव है। ईमानदारी एक जीवन मूल्य थी और भ्रष्टाचार एक अवमूल्य। कालांतर में ईमानदारी मूर्खता का पर्याय बन गई जबकि भ्रष्टाचार से अर्जित धन प्रतिष्ठा का सूचक हो गया। आज एक सदाचारी भ्रष्ट व्यवस्था की चक्की में पिसाता है, वहीं एक भ्रष्टाचारी नाजायज़ धन के बल पर मुस्कुराता है। यानी समाज का आदर्श अब भ्रष्टाचारी बनता जा रहा है। अतः ज़रूरत है सच्चे जीवनादर्शों की स्थापना की। संभव है कुछ लोगों को ये कोरा आदर्श लगे, किन्तु ईमानदारी, नैतिक मूल्य तथा सच्चा जीवनादर्श ही आत्मिक उन्नयन कर लोभ एवं स्वार्थ पर लगाम कस सकता है और अंततः भ्रष्टाचार को पराजित कर सकता है।

बेशक भ्रष्टाचार का नासूर हमारे राष्ट्र को जर्जर बना रहा है। लेकिन अभी भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिन्होंने सत्य का दामन नहीं छोड़ा है। नज़र उठाकर यदि देखें तो इसी समाज में जहाँ यादव सिंह और रंजीत सिन्हा जैसे भ्रष्ट अफसर हैं तो वहीं के. जे. राव, ई श्रीधरन तथा अशोक खेमका जैसे ईमानदार अधिकारी भी मौजूद हैं। जहाँ सुखराम और मधु कोड़ा जैसे दागदार नेता हैं तो वहीं माणिक सरकार, ए. के. अंटोनी जैसे बेदाग नेता और अन्ना हज़ारे जैसे समाजसेवी भी मौजूद हैं। बस ज़रूरत है अच्छाई और सच्चाई को प्रतिष्ठित करने की। इसके अलावा जिस देश के पास समुन्नत नैतिक मूल्य, बुद्ध की विरासत, गांधी की थाती, भगत सिंह की क्रांतिकारिता, विवेकानंद का ज्ञान, अंबेडकर का संविधान तथा 80 करोड़ युवाओं का अभिमान हो वह भ्रष्टाचार से हार जाए, यह कतई वाज़िब नहीं। इसलिये हमें सत्ता और धन का मोह त्यागकर भ्रष्टाचार से टकराना ही होगा। चूँकि सत्ता का चरित्र स्पष्ट है। इतिहासकार नोम चोम्सकी के अनुसार *"सत्ता जानती है कि सत्य क्या है और जानकर भी उसके खिलाफ काम करती है जैसे महाभारत में दुर्योधन ने कहा था कि मैं धर्म के बारे में जानता हूँ लेकिन उस ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है, अधर्म भी जानता हूँ पर उससे निवृति नहीं है।"* अतः भ्रष्टाचार की लड़ाई को सिर्फ सरकार के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता बल्कि यह प्रत्येक जन-गण का नैतिक दायित्व है। इसमें सर्वाधिक ज़िम्मेदारी युवाओं की है। इतिहास गवाह है कि जब-जब युवाओं ने कमर कसी है बुराई पराजित हुई है, चाहे वह आज़ादी की लड़ाई हो या आपातकाल के दौरान का संघर्ष, युवाओं ने विजय पताका फहराई ही है। बस युवाओं को यह समझना होगा कि सत्ता और धन से न तो उदात्तता आती है और न ही शालीनता। उसके लिये ज्ञान चाहिये। ज्ञान ही युवाओं को शिष्ट और भ्रष्ट का अंतर समझाता है तथा भ्रष्टाचार से लड़ने की हिम्मत-ताकत और कूवत प्रदान करता है। इसलिये ज्ञानबद्ध युवाओं की टोली द्वारा भ्रष्टाचार की हार सुनिश्चित है। अंततः दुष्यंत कुमार की इन पक्तियों के साथ यही कहना समीचीन है कि भले भ्रष्टाचार पीड़ा का पहाड़ बन गया हो परन्तु यह न ही सर्वकालिक है न ही स्थायी। मज़बूत युवा बाजुओं की ताकत के सामने भ्रष्टाचार ज़रूर नतमस्तक होगा, बस हमें अपने इरादों को मज़बूत करने की ज़रूरत है, क्योंकि-

"हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिये,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिये।
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिये।"

■■■

DOFR CLASSES

Scanned by CamScanner

स्मार्ट इंडिया के दौर में क्यों उपेक्षित हैं किसान?

"भारत
मेरे सम्मान का सबसे महान शब्द
जहाँ कहीं भी इस्तेमाल होता है
बाकी सभी शब्द अर्थहीन हो जाते हैं
इस शब्द के अर्थ
किसी दुष्यंत से संबंधित नहीं
वरन् खेतों में दायर हैं/जहाँ अनाज उगता है,
जहाँ सेंध लगती है/जहाँ आज भी किसान
पेड़ों की परछाइयाँ देखकर समय मापता है।"

पर दुःख है कि करोड़ों भारतीयों की छवियों में बसा यह भारत आज हटाया जा रहा है, दमित किया जा रहा है, आत्महत्या करने को विवश है; ऐसा क्यूँ है? ऐसा है 'विकास' की नई अवधारणाओं की वजह से, उदारीकरण-भूमंडलीकरण के गाजे-बाजे की वजह से। जिसमें भारतीय समाज से भारतीय किसान को उसी तरह छिपाया-हटाया जा रहा है, जैसे प्रेमचंद ने बूढ़ी काकी के साथ होता दिखाया है। निश्चय ही 21वीं सदी की चुनौतियों के अनुरूप हमें स्किल्ड एवं स्मार्ट इंडिया का निर्माण करना है पर ज़मीन से कटकर नहीं, अपनी जड़ों से उखड़कर नहीं। विकास की अवधारणा में जड़ों से यह स्खलन इसलिये है कि हमारे गाँवों-कस्बों की विकास की नीतियाँ हॉवर्ड, स्टैनफोर्ड जैसे विश्वविद्यालयों और विश्व बैंक के दफ्तरों में बनती हैं। जड़ों से कटे नीति-निर्माताओं के लिये खेती व किसान महज़ आँकड़ों के हिस्से हैं, जबकि वास्तविकता है कि यह भारतीयता की आत्मा है। इसे बचाया जाना चाहिये।

आज भारत में 'स्मार्ट इंडिया' मिशन चलाया जा रहा है। देश भर में सैकड़ों 'स्मार्ट सिटी' बनाई जा रही हैं। पर इस बात को समझने की ज़हमत कोई नहीं उठाना चाहता कि खेती में भी कौशल का विकास हो सकता है। और स्मार्ट शहरों के बीच यदि गरीबी-अशिक्षा-बेरोज़गारी के द्वीप के रूप में गाँव कायम होंगे तो क्या भारत कभी वास्तविक विकास कर पाएगा? इस ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। कृषि एवं इससे जुड़ी योजनाओं में कटौती की जा रही है। वस्तुतः समस्या के मूल में है- विकास की एकांगी अवधारणा। खेती को स्मार्ट बनाने की सबसे अधिक ज़रूरत है। अधिकांश गंभीर तथा भारतीय मामलों के जानकार लोगों का मानना है कि यह खेती एवं ग्रामीण बाज़ार की अंतर्निहित शक्ति ही थी जिसने भारत को मंदी से दूर रखा तथा भारत की सबसे अधिक संभावनाओं वाला क्षेत्र भी खेती-किसानी ही साबित हो सकती है।

आज बड़ी संख्या में किसान आत्महत्या कर रहे हैं। पिछले 10 सालों में 90 लाख किसानों ने खेती छोड़ दी है, यानी प्रतिदिन करीब 2,500 किसान खेती छोड़ रहे हैं। अब खेती मजबूरी का पेशा बन गई है। एक-तिहाई से भी अधिक

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

किसानों के पास यदि कोई विकल्प हो तो वे दूसरा पेशा अपना लें। कृषि उत्पादों का न्यूनतम समर्थन मूल्य 3.6% की रफ्तार से बढ़ रहा है, जबकि महँगाई इससे दुगुनी रफ्तार से बढ़ रही है। यही नहीं किसानों की उत्पादन लागत लगातार कई वर्षों से घाटे वाली बनी हुई है। खेती उनके लिये घाटे का सौदा बना दिया गया है। पर मध्यम वर्ग को सस्ता अनाज देने की कीमत किसान चुका रहा है, फसल की कम कीमत पाकर किसानों के तीन-चौथाई हिस्से को गरीबी की रेखा के नीचे जीवन काटना पड़ रहा है। मुख्य समस्या है समुचित मूल्य पाने की और खेती से बचत न होने की। ऐसी स्थिति में वह आगे निवेश नहीं कर सकता जबकि उसे हर फसल में ऐसा करना होता है। साख की उचित व्यवस्था न होने के कारण वह साहूकारों से कर्ज़ लेता है और कर्ज़ के दुष्चक्र में फँस जाता है। पर्याप्त बीमा के अभाव में सूखे-बाढ़ जैसी आपदाओं के बीच खेती आज भी उसके लिये जुआ बनी हुई है।

किसान मुद्दा क्यों नहीं है? वास्तविक बहस से वह गायब क्यूँ है? नीतियों की तलछट में ही वह पाया जा सकता है। वह धरना करता है- लाठी खाता है- विस्थापित होता है तथा आत्महत्या तक कर लेता है तब भी मूल मुद्दे कभी चर्चा में नहीं आते। कारण स्पष्ट है कि किसान कोई संगठित शक्ति नहीं है। किसान संगठन भी दलीय निष्ठाओं के अनुसार बिखरे हुए हैं। वे वोट बैंक नहीं हैं। इसलिये वे राजनीतिज्ञों के लिये ज़्यादा काम के नहीं। वहीं पूंजीपतियों की आवाज़ नीति-निर्माताओं तक बिना धरने के पहुँच जाती है और सारी नीतियाँ उनके अनुसार ही बनाई-बिगाड़ी जाती हैं।

पी. साईंनाथ जैसे पत्रकारों के अथक प्रयासों से हज़ारों की संख्या में हो रही आत्महत्याओं पर मीडिया का ध्यान जाता है, तब जाकर सुगबुगाहट होती है कि किसान इतने निराश क्यूँ हैं कि अपनी जान दे रहे हैं। छोटी जोतें या मानसून जैसी समस्याएँ हमेशा से थीं पर आत्महत्याएँ 90 के दशक में ही क्यूँ शुरू हुईं? यह वही समय था जब भारत में उदारीकरण लागू किया जा रहा था, डब्ल्यूटीओ की नीतियों को स्वीकारा गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था दबाव में थी तथा हम पर विश्व बैंक व आईएमएफ की नीतियाँ लागू करने का दबाव था। वास्तव में उदारीकरण के बाद ही कृषि को हाशिये पर ढकेला गया। बेमौसम बारिश/ओले/जलवायु परिवर्तन जैसे कारण ज़रूर हैं पर जिनकी वजह से किसानों की दुर्दशा हो रही है, उनका संबंध हमारी अदूरदर्शी आर्थिक नीतियों से है।

बढ़ती महँगाई की वजह से किसानों के लिये कर्ज़ लेना आवश्यक होता जा रहा है, पर उस अनुरूप उन्हें लाभ नहीं मिल पा रहा है (या दिया नहीं जा रहा है)। मध्यम वर्ग के लिये खाद्यान्नों को सस्ता रखने के लिये किसानों को न्यूनतम समर्थन मूल्य कम दिया जा रहा है। विश्व भर में सस्ते श्रम/सस्ते कच्चे माल के लिये यानी वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा में बने रहने के लिये किसान को बलि का बकरा बनाया जा रहा है। स्वामीनाथन समिति ने सुझाव दिया था कि किसानों से लागत मूल्य के 50% मुनाफे पर फसलों की खरीद हो, यह सुझाव उनके जीवन में अंतर ला सकता था पर सरकार ने उस पर विचार ही नहीं किया। कॉरपोरेट ऋणों के लिये सरकार खुद गारंटी लेती है। कॉरपोरेट से जितनी आय होती है उसका 50% छूट में चला जाता है, इससे सरकार 4 लाख करोड़ रुपए का घाटा सहती है। बैंक ज़्यादातर बड़े पूंजीपतियों को ऋण देती हैं।

हमें समय रहते समाधान ढूँढना ही होगा। कृषि जोतों के बारे में सोचना होगा। भूमि को अनुपजाऊ बना रहे उर्वरकों के बारे में सोचना होगा। सोचना होगा, लगातार जलस्तर घटा रहे ट्यूबवेलों के बारे में यह भी सोचना होगा कि लागत ज़्यादा और मुनाफा कम क्यूँ होता जा रहा है? गाँव और किसान की तस्वीर बदलनी ही होगी। इस विडंबना पर ध्यान देना होगा कि जहाँ पूरे देश का कैलोरी उपभोग बढ़ा है, किसानों के कैलोरी उपभोग में 15% की भारी गिरावट आई है यानी अन्नदाता की थाली ही खाली हो रही है। पेट के लिये नहीं बल्कि बाज़ार के लिये खेती के प्रचलन ने खेती की विविधता को प्रभावित किया है। अब दो फसलों पर पूरा परिवार पूरी तरह से निर्भर रहता है अतः उसके ऊपर पड़े ज़रा- से दुष्प्रभाव से उनका पूरा ताना-बाना ही बिखर जाता है। हमें छिटपुट और तात्कालिक समाधानों के बजाय

DOEACLASSES

Scanned by CamScanner

दीर्घकालिक एवं स्थायी समाधानों की तरफ बढ़ना होगा। सोचना होगा कि खेती करना 'मेक इन इंडिया' का हिस्सा क्यूँ नहीं होना चाहिये?

स्मार्ट तौर-तरीकों और कौशल विकास को किसानी में लागू करने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। साख व्यवस्था को ज़्यादा उदार बनाना होगा। माइक्रो बैंकिंग का विस्तार किया जाना चाहिये। नकदी हस्तांतरण की योजना को और व्यापक बनाया जाना चाहिये। उसे बीमा व्यवस्था से जोड़ा जाना चाहिये। कृषि में निवेश बढ़ाया जाना चाहिये। हमें कृषि से जुड़े आधे लोगों को 'स्किल्ड इंडिया मिशन' (कौशल विकास) से जोड़कर उद्योगों एवं सेवा क्षेत्र के कुशल श्रमिकों को तैयार करना होगा ताकि कृषि पर लोगों की निर्भरता को घटाया जा सके तभी कृषि को लाभप्रद बनाने का रास्ता खुल सकेगा। खेती की स्मार्ट प्रणाली शोषण दूर करेगी। किसान को जड़ता से बाहर लाएगी। यह प्रणाली प्रत्येक गाँव का माइक्रोप्लान बनाना संभव करेगी तथा निवेश का सही उपयोग बताएगी। गाँव-गाँव सोशल इंजीनियरिंग व सहकारिता का उपयोग करके साझे कार्यक्रम चलाए जाने चाहियें। परती भूमि सुधार, खेत-तालाब योजना, भू-जल प्रबंधन, फसलोत्तर प्रबंधन पर काम इसी के तहत होना चाहिये। प्रत्येक गाँव इकाई को विशिष्ट उत्पादों से जोड़ देना चाहिये। इस काम में मनरेगा, आदर्श ग्राम योजना का उपयोग होना चाहिये। भारत में कृषि-उत्पादों के निर्यात की अपार संभावना है। उससे गाँवों व किसानों की तस्वीर बदल सकती है। गाँवों में ही उचित साझे प्रबंधन, स्वयं सहायता समूहों आदि की सहायता से निर्यात योग्य उत्पाद तैयार किये जाएँ। प्रत्येक गाँव में मंडी व गोदाम की व्यवस्था की जाए। सूखी जगहों पर खेती की व्यवस्था की जाए। ड्रिप प्रणाली चेकडैम आदि बनाकर फसल चक्र का पालन किया जाए और ग्रामीण सामुदायिकता व सहकारिता को प्रारंभिक शिक्षा में जगह देकर बढ़ावा दिया जाए। देश के अलग-अलग कृषि क्षेत्रों के लिये अलग-अलग रणनीति ज़्यादा प्रभावी होगी। किसानी महज़ मानसून का जुआ भर न रह जाए इसके लिये हमें स्मार्ट शहरों की तरह ही समृद्ध गाँवों के ढाँचे पर ध्यान देना होगा। किसानों को परिवहन/भंडारण/बुनियादी सेवाओं/बैंक/बीमा/स्वास्थ्य/शिक्षा को उनकी पहुँच के भीतर पहुँचाना होगा। किसान समाज का सबसे वंचित वर्ग है इस पीड़ादायक अवधारणा को तोड़ना होगा। किसानों को भी नए तरीके अपनाकर प्रगतिशील बनना होगा। उसे असंगठित क्षेत्र की तरह वेतन/पेंशन का हकदार माना जाना चाहिये। मीडिया को भी उनकी सही खबर रखनी होगी। उनके बारे में आम शहरी लोगों को तभी पता चलता है जब कोई बुरी खबर आती है।

ई-गवर्नेंस पर ज़ोर देकर हम उनके शोषण पर लगाम लगा सकते हैं तथा उनको ताज़ी जानकारियाँ भी प्रदान कर सकते हैं। हमें बाज़ार में हस्तक्षेप करके किसानों के लिये भी राह निकालनी होगी। उन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना होगा जो किसानों के हितों को चोट पहुँचाती हैं। यथा-न्यूनतम समर्थन मूल्यों तथा सब्सिडी के प्रश्न पर किसान के पक्ष को तटस्थ भाव से न देखकर खेती-किसानी के विकास के कोण से देखना होगा। पीपीपी मॉडल को ग्रामीण संरचना के क्षेत्र में भी लागू करना होगा, ताकि ग्रामीण भारत की तरफ भी निवेश आकर्षित हो। हमें एक ग्रामीण निगरानी तंत्र बनाना होगा, जो वहाँ की वास्तविक स्थिति को लगातार नीति-निर्माताओं तक पहुँचा सके तथा भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगा सके, ताकि योजनाओं का सही लाभ किसानों तक पहुँचाया जा सके। भूमि अधिग्रहण करते समय ध्यान रखा जाए कि कृषि योग्य ज़मीनें न ली जाएँ, क्योंकि करीब 4 करोड़ हेक्टेयर ऐसी ज़मीनें हैं जिन पर खेती नहीं की जा सकती है। लैंड बैंक जैसी व्यवस्था करनी होगी, कृषि पर एक स्थायी आयोग एवं एक अर्द्ध न्यायिक ट्रिब्यूनल होना चाहिये, जो ऐसी चीज़ों की निगरानी करे ताकि विकास योजनाएँ भी चलाई जा सकें एवं किसान भी अशांत एवं परेशान न हों। यदि भूमि अधिग्रहण के बाद भूमि का प्रयोग न हो तो भूमि को मुआवज़े के साथ वापस किया जाए। ऐसे कुछ उपबन्ध जोड़कर कृषि भूमि पर दबाव घटाया जा सकता है तथा कॉरपोरेट्स के ऊपर दबाव बनाया जा सकता है ताकि वे भूमि का सही उपयोग करें। ऐसे तमाम उपाय हैं जिन्हें अपनाकर हम किसानों के मन को उपेक्षित रहने की भावना से उबार सकते हैं तथा उन्हें विकास की मुख्यधारा में शामिल कर सकते हैं। ■■■

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

ग्रीन इंडिया बनाम डिजिटल इंडिया : क्या हो विकास का सही पैमाना?

वर्तमान भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के युग में जब भी विकास की बात आती है तो स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न मन में उठता है कि विकास की प्रकृति क्या हो? विकास अपने आप में एक साध्य है अथवा साधन? विकास का सही पैमाना क्या हो? इन प्रश्नों के मूल में जाने से पहले विकास क्या है यह जानना उचित होगा। दरअसल विकास को एक वांछित और सकारात्मक बदलाव या परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जाता है। इसे परिवर्तन की उस सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है जो समाज में आमतौर पर स्वीकार्य होती है। समय और देशकाल में परिवर्तन के साथ लोक कल्याणकारी राज्यों के सामने विकास को अधिक समतामूलक, समावेशी, न्यायपूर्ण और धारणीय बनाने पर बल दिया जाने लगा। भारत सरकार ने भी विकास को इन सन्दर्भों में लेने की शुरुआत की। भारत पर्यावरण की सुरक्षा के प्रश्न को अहम मानता है। विभिन्न वैश्विक पर्यावरणीय संधियों और अभिसमयों के प्रति भारत ने अपनी आस्था व्यक्त की है और इनके प्रावधानों का अनुपालन करने का प्रयास किया है। चाहे वो ब्रंटलैंड आयोग की सतत विकास की धारणा को अपनाने का प्रश्न हो, मॉण्ट्रियल प्रोटोकॉल के तहत ओज़ोन क्षरण को रोकने के प्रभावी प्रयास करने का सवाल हो, पृथ्वी समिट में साझा किन्तु भिन्न दायित्वों के सिद्धांत को अपनाने का सवाल हो या फिर यूएनएफसीसीसी के बैनर तले कोप सम्मेलनों में तय की गई ज़िम्मेदारियों को निभाने का सवाल, भारत ने पर्यावरण संरक्षण की हर एक क्षेत्रीय और वैश्विक मुहिम को मज़बूती देने का प्रयास किया है। इसी सोच के साथ हरित भारत के लक्ष्य को स्वीकार किया गया। संकटापन्न जीव-जंतुओं की विविध प्रजातियों को बचाना, 33 प्रतिशत वनीकरण के लक्ष्य को प्राप्त कर ठोस कार्बन सिंक का निर्माण करना, मरुस्थलीकरण को रोककर जैव-विविधता को सुरक्षित करने के लक्ष्य के साथ भारत आगे बढ़ा है। वर्ष 2008 में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री के नेतृत्व में जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्ययोजना का शुभारम्भ हुआ था। इसके 8 संघटकों में से एक ग्रीन इंडिया मिशन था। हरित भारत योजना में स्पष्ट किया गया है कि जलवायु परिवर्तन से देश के प्राकृतिक संसाधनों के वितरण, प्रकार और गुणवत्ता को नुकसान पहुँचेगा तथा संबंधित लोगों की जीविकाओं पर भी बुरा असर पड़ेगा। यह मिशन वानिकी क्षेत्र द्वारा किये गए पर्यावरणीय सुधार को मान्यता देता है लेकिन इसके साथ ही जलवायु परिवर्तन, खाद्य सुरक्षा, जल संरक्षण, जैव-विविधता संरक्षण और वनों पर निर्भर लोगों की जीविकाओं के सुरक्षा संबंधी कार्यों को भी मान्यता देता है। इसकी मुख्य बातें हैं: पारिस्थितिकी तंत्र सेवाओं में सुधार करना, समुदाय के युवाओं को वन अधिकारी के रूप में नियुक्त करना, ऐसी सोच और सुधार एजेंडा अपनाना जिससे कि प्राकृतिक छवि को कोई हानि न पहुँचे। राज्यों और केंद्र को मिलाकर 10 वर्षों की अवधि के लिये इस पूरी योजना पर ₹ 46,000 करोड़ का खर्च आने का आकलन किया गया है।

राष्ट्रीय हरित मिशन ने ग्रीनिंग को जलवायु परिवर्तन अनुकूलता के संदर्भ में देखा है और इसमें शमन का तात्पर्य कार्बन में कटौती और भंडारण (वनों और अन्य पारिस्थितिकी तंत्रों में), हाइड्रोलॉजिकल सेवाएँ और जैव-विविधता के साथ-साथ अन्य सेवाएँ, जैसे- तेल, चारा, छोटी लकड़ियाँ और गैर टिम्बर वन संसाधन जैसी पारिस्थितिकी तंत्र सेवाओं को मज़बूत करने से है। इस मिशन में वन/ गैर वन वाली भूमि पर 50 लाख हेक्टेयर के वनों/पेड़ों को बढ़ाना तथा अन्य

DOFROCLASSES

Scanned by CamScanner

50 लाख हेक्टेयर (कुल 10 लाख) वन क्षेत्र की गुणवत्ता को सुधारने, कार्बन में कमी समेत पारिस्थितिकी तंत्र सेवाओं को सुधारने, वनों पर निर्भर रहने वाले 30 लाख परिवारों की कमाई को बढ़ाने और 2020 तक 50–60 लाख टन तक कार्बन डाइऑक्साइड में कटौती करने का लक्ष्य तय किया गया है।

अब बात आती है डिजिटल इंडिया की, जो खुद में आज के भारत की ज़रूरत है। भारतीय विकास यात्रा को डिजिटल रूप देने का प्रयास कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों से जुड़ा हुआ है। ज्ञान आधारित समाज और ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था के युग में डिजिटल ग्रोथ या डेवलपमेंट भारत जैसी उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं वाले देश की महती आवश्यकता है। इससे भ्रष्टाचार को दूर करने में विशेष मदद मिलेगी, बिचौलियों की घूसखोरी के पदसोपान को तोड़ने में मदद मिलेगी। सार्वजनिक सेवाओं की त्वरित प्रदायगी सुनिश्चित करने में मदद मिलेगी और सेवाओं की गुणवत्ता को भी बढ़ावा मिलेगा। डिजिटल इंडिया सुशासन को बढ़ावा देने वाला उपकरण साबित हो सकता है। ऑनलाइन पंजीकरण और शिकायत निवारण तंत्र के विकास के साथ पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भी बेहतर योगदान किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों और लाभों को ध्यान में रखकर भारतीय प्रधानमंत्री द्वारा 'डिजिटल इंडिया मिशन' की शुरुआत की गई है। 'डिजिटल इंडिया' मिशन के तहत ई-गवर्नेंस, ब्रॉडबैंड हाइवे, नेशनल स्कॉलरशिप पोर्टल, ई-हॉस्पिटल, माई गवर्मेंट मोबाइल ऐप, स्वच्छ भारत मोबाइल ऐप, डिजिटल लॉकर, ई-साइन जैसी सुविधाओं की शुरुआत की गई है।

ग्रीन इंडिया और डिजिटल इंडिया के लाभों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि आज विकास का एकीकृत और समावेशी होना बहुत ज़रूरी है। पर्यावरण की सुरक्षा ज़रूरी है तो आर्थिक संवृद्धि और सुशासन के प्रयास भी ज़रूरी हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि डिजिटल इंडिया पहल को इस हद तक बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिये कि आधुनिक भारत केवल लैपटॉप और स्मार्टफोनों से भर उठे। मशीनीकरण, यंत्रीकरण की परिसीमाओं को पहचानना होगा। और जहाँ कहीं भी परिसीमाओं का प्रश्न उठेगा वहाँ सतत विकास और ग्रीन भारत के लक्ष्य की सार्थकता स्वतः ही सिद्ध हो जाएगी। भारत सरकार को वस्तुतः पर्यावरण या हरित भारत की कीमत पर अंधाधुंध विकास को बढ़ावा देने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे भविष्य की पीढ़ी की ज़रूरतों के साथ न्याय नहीं हो सकेगा। डिजिटल इंडिया पर अत्यधिक ज़ोर देने का परिणाम यह होगा कि भारत में इलेक्ट्रॉनिक अपशिष्टों और उनके निस्तारण की भीषण समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इससे गंभीर जलवायु परिवर्तन के दौर में ग्रीन हाउस उत्सर्जन को बढ़ावा मिलने का संकट बढ़ जाएगा। हाल की चेन्नई की बाढ़ की घटना के बाद कहा गया है कि यदि चेन्नई में आर्द्र भूमियों, मैंग्रोव वनों और अन्य वनीकरण के प्रयासों पर पहले से ही समुचित ध्यान दिया गया होता तो शायद चेन्नई को इतनी भीषण बाढ़ आपदा का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ ग्रीन इंडिया के पैटर्न वाले विकास की उपादेयता सिद्ध होती है। भारत में वन क्षेत्रों में होने वाली कमी के चलते या यूँ कहें कि पेड़ों की अंधाधुंध कटाई के चलते विभिन्न हिंसक पशुओं का पलायन मानव अधिवासों की तरफ होने लगा है जिससे मानव-पशु संघर्ष की घटनाओं में बढ़ोतरी हुई है।

नगरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति ने बंगलुरु जैसे शहरों की झीलों को कचरों और बायोएयरोसॉल से इस कदर पाट दिया है कि झीलों में आग लगने की खबरें कई बार मिल चुकी हैं। कृषि योग्य भूमि और वनभूमि का वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिये रूपांतरण कर दिया गया है। इन समस्त चुनौतियों से निपटने के प्रयास करने होंगे, तभी जाकर विकास का पैमाना मानव कल्याण के साथ-साथ पृथ्वी के स्थायी हित में खरा उतर सकेगा। आज समूचे विश्व समुदाय और साथ ही भारत को भी समझना होगा कि ग्रीन ग्रोथ का कोई विकल्प नहीं है। इसलिये हरित या इको-फ्रेंडली तकनीकों में ज़्यादा निवेश करने, व्यापार वाणिज्य में हरित मानकों का कठोरता से अनुपालन कराए जाने की ज़रूरत है। इसमें कोई शक नहीं है कि भारत सरकार ने हरित भारत के निर्माण के लिये प्रयास तेज़ किये हैं, लेकिन इस तरह के प्रयासों को स्थायी प्रवृत्ति बनाए जाने की ज़रूरत है। इस प्रवृत्ति की मांग को निम्नांकित पंक्तियों में दर्शाया जा सकता है-

"भारत भूमि के नव पथिक नूतन जीवन भर दो।
तोड़ दो अतीत की वो दीवारें क्लेश जिनसे मिले,
बदले हुए अंदाज़ में इतिहास नया रच दो।"

■■■

DOR CLASSES

Scanned by CamScanner

सोशल मीडिया का दुरुपयोग और आंतरिक सुरक्षा की चुनौतियाँ।

"घिरा हुआ हूँ मैं हर तरफ से
है आइने में हवा की दहशत।"

किसी शायर के ये भाव आज सोशल मीडिया से उत्पन्न डर, समस्याओं, दहशत आदि को बखूबी बयाँ करते हैं। परंतु यह विडंबना है कि जिस सोशल मीडिया का उद्देश्य सकारात्मक रूप से विचारों का सहज हस्तांतरण था, वह आज डर, समस्या, आंतरिक असुरक्षा, अभद्र टिप्पणियों का मंच बनकर रह गया है। सोशल मीडिया का जन्म विभिन्न व्यक्तियों, समाजों व विचारों की अभिव्यक्ति के लिये हुआ था, जहाँ लोग भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर विचारों का सहज आदान-प्रदान कर सकें। दिन-प्रतिदिन अखबार की सुर्खियों में हमें कोई-न-कोई ऐसी घटना ज़रूर दिख जाती है जिसमें सोशल मीडिया के संजाल का प्रयोग कर आंतरिक सुरक्षा, बंधुत्व-भातृत्व को भेदा गया हो।

ज्यों-ज्यों सूचना प्रौद्योगिकी हमारे निजी एवं कामकाजी जीवन तथा संचार का हिस्सा बनती जा रही है और कंप्यूटरीकरण तथा इंटरनेट- कनेक्टिविटी सरकारी कामकाजी तंत्र की अनिवार्यता बन रहे हैं, त्यों-त्यों इंटरनेट के ज़रिये आंतरिक सुरक्षा के लिये चुनौतियाँ भी बढ़ती चली गई हैं। इंटरनेट पर उपस्थित हर सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण कंप्यूटर एक समान संचार तंत्र से जुड़ा हुआ है और यही उसकी स्थिति को संवेदनशील बना देता है। साइबर माध्यमों से विध्वंसक गतिविधियों को अंजाम देने की प्रक्रिया ने अब सुसंगठित और संस्थागत रूप ले लिया है। कई आतंकवादी संगठन और दुष्ट राष्ट्र साइबर हमले करने की क्षमता बढ़ाने में लगे हैं। साइबर क्राइम आज एक गंभीर चुनौती बन गया है, साइबर टेररिज़्म (इंटरनेट आधारित आतंकवादी गतिविधियाँ) और साइबर वार (Cyber War) के खतरे भी लगातार बढ़ते जा रहे हैं। इंटरनेट के ज़रिये हो रही आईएसआईएस (ISIS) की भर्तियों, मुंबई के हमलों और चीनी हैकरों की हरकतों ने स्पष्ट कर दिया है कि हमारी आंतरिक सुरक्षा के प्रति साइबर चुनौती कितनी गंभीर है।

आजकल विध्वंसक तत्त्व इंटरनेट का प्रयोग कई रूपों में करने लगे हैं। चूँकि इंटरनेट विश्वव्यापी है और उस पर अपनी पहचान छिपाना मुश्किल नहीं है, इसलिये वह किसी भी आपराधिक नेटवर्क के लिये आंतरिक संदेशों के आदान-प्रदान का सबसे अनुकूल माध्यम है। ई-मेल और चैट (Chat) जैसे इंटरनेट के पारंपरिक माध्यमों के साथ-साथ आपराधिक तत्त्वों ने अब कई आधुनिकतम सेवाओं, तकनीकों और युक्तियों के ज़रिये संदेश भेजने शुरू कर दिये हैं। ऐसे लोग अपनी कोई पहचान छोड़े बिना 'वॉयस ओवर इंटरनेट प्रोटोकॉल (VoIP)' के ज़रिये दुनिया भर में टेलीफोन कॉल करते हैं और ट्विटर जैसी माइक्रोब्लॉगिंग सेवाओं का प्रयोग कर एक-दूसरे की गतिविधियों से अवगत रहते हैं। सुरक्षा अधिकारी इस बात को लेकर चिंतित हैं कि साइबर अपराधी और आतंकवादी तत्त्व अपने संदेशों को भेजने के लिये बाकायदा आधुनिकतम कूटलेखन तकनीक (Encryption Technology) का प्रयोग करते हैं, जिन्हें पढ़ पाना दूसरों के लिये लगभग असंभव होता है।

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

इन तत्त्वों के लिये इंटरनेट का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपयोग अपनी गतिविधियों को प्रचारित करना है। कहा जाता है कि प्रचार आतंकवाद की प्राणवायु है और इंटरनेट ने उनके लिये मीडिया तक अपनी बातों को पहुँचाना और प्रचार करना बहुत आसान कर दिया है। ऐसे लोग इंटरनेट का जमकर दुरुपयोग कर रहे हैं। कई आतंकवादी संगठनों की तो अपनी वेबसाइटें भी हैं जिन पर वे अपने वीडियो और आतंकवादी सामग्री डालते रहते हैं। वैसे, ये सभी गतिविधियाँ हमें परोक्ष रूप से ही प्रभावित करती हैं, लेकिन अब तो इंटरनेट माध्यमों का प्रयोग प्रत्यक्ष हमलों को अंजाम देने के लिये भी किया जा सकता है, जैसा मुंबई हमले में देखा गया। लेकिन इन सबसे बड़ी चुनौती है, साइबर टेररिज़्म या इंटरनेट आधारित आतंकवाद, जो सूचना विशेषज्ञों और सुरक्षा एजेंसियों की सबसे बड़ी चिंता है। दुनिया के किसी कोने में अनजान स्थान पर बैठा अपराधी या आतंकवादी वहीं से किसी देश के विरुद्ध आतंकवादी हमला कर सकता है। साथ ही, इसमें न तो पकड़े जाने की आशंका है और न ही मारे जाने का खतरा। कच्चे माल के तौर पर अगर ज़रूरत है तो महज़ एक कंप्यूटर, एक इंटरनेट कनेक्शन और एक शातिर दिमाग की।

> “कोई भी गलत टिप्पणी एक व्यक्ति से होते हुए दूसरे, चौथे, आठवें और हज़ारवें व्यक्ति तक पहुँच सकती है और इस प्रक्रिया में बस कुछ ही मिनट लगते हैं। कोई भी गलत हरकत हज़ारों-लाखों लोगों के मन में उन्माद का बीज पैदा कर सकती है। आभासी दुनिया में उत्पन्न हुए इस उन्माद की प्रतिक्रिया वास्तविक दुनिया में घटित होती है, जिससे निपटना सरकार के लिये एक चुनौती होती है। इस चुनौती से निपटने के लिये सरकार इंटरनेट आधारित सेवाओं का नियमन करती है ताकि कोई आभासी झूठ वास्तविक नुकसान का कारण न बन जाए।”

अपनी तमाम उपयोगिताओं के बावजूद सोशल मीडिया में कुछ कमज़ोरियाँ भी हैं जो सामाजिक तनाव और अशांति पैदा कर सकती हैं। कोई व्यक्ति इसका प्रयोग किसी व्यक्ति, वर्ग, समुदाय, पंथ, धर्म, दल या समाज के प्रति नफरत फैलाने और संदेह पैदा करने के लिये कर सकता है। कोई भी गलत टिप्पणी एक व्यक्ति से होते हुए दूसरे, चौथे, आठवें और हज़ारवें व्यक्ति तक पहुँच सकती है और इस प्रक्रिया में बस कुछ ही मिनट लगते हैं। कोई भी गलत हरकत हज़ारों-लाखों लोगों के मन में उन्माद का बीज पैदा कर सकती है। आभासी दुनिया में उत्पन्न हुए इस उन्माद की प्रतिक्रिया वास्तविक दुनिया में घटित होती है, जिससे निपटना सरकार के लिये एक चुनौती होती है। इस चुनौती से निपटने के लिये सरकार इंटरनेट आधारित सेवाओं का नियमन करती है ताकि कोई आभासी झूठ वास्तविक नुकसान का कारण न बन जाए। हालाँकि, इस तरह के कदमों का जमकर विरोध होता है और उन्हें अभिव्यक्ति की आज़ादी के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के खिलाफ माना जाता है। झूठे तथ्यों और फर्जी घटनाओं के प्रचार का माध्यम बनाने के साथ-साथ सोशल मीडिया का इस्तेमाल गलत और हिंसक इरादों से भीड़ को इकट्ठा करने तथा उकसाने के लिये भी किया जाने लगा है। भारत ही नहीं, दुनिया भर की सरकारों के लिये सोशल मीडिया आधारित अराजकता एक बड़ी सुरक्षा चुनौती बनती जा रही है।

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

भारत अपनी विविधता के कारण भी इस तरह के हमलों के लिये एक मुफीद जगह बनकर उभरा है। भारत विभिन्न धर्म, जाति, विचार, नस्लों का संगम है तथा सभी को अपने विचारों के प्रसार की पूरी आजादी है। अत: यहाँ छोटी-छोटी घटनाओं को गलत तरह से प्रस्तुत कर सामाजिक वातावरण को दूषित किया जा सकता है। एक उदाहरण के रूप में देखें तो सोशल मीडिया के दुरुपयोग का खामियाज़ा उत्तर-पूर्वी राज्यों के लोगों को भी झेलना पड़ा। फेसबुक, व्हाट्सएप और दूसरे माध्यमों पर ऐसी अफवाहें फैलाई गईं और ऐसी धमकियाँ दी गईं कि उत्तर-पूर्व के लोग भारत के कोने-कोने से अपने मूल राज्यों में लौटने पर मज़बूर हो गए। दहशत का ऐसा माहौल बना कि सरकारों के बार-बार आश्वस्त किये जाने पर भी उत्तर-पूर्वी राज्यों के लोग यकीन नहीं कर पाए कि वे दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भारत में सुरक्षित रह पाएंगे। संदेह का यह माहौल कई महीनों तक चला। अत: सरकार को चाहिये कि इस 'सूचना के विस्फोट' को सही तरीके से नियमन कर राष्ट्र निर्माण के लिये प्रेरित करे।

दूरसंचार के आधुनिक तौर-तरीकों और इंटरनेट के आगमन ने आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई का दायरा बढ़ा दिया है। अब यह लड़ाई सिर्फ हथियारों और हथगोलों की लड़ाई नहीं रही, बल्कि सूचना तंत्र की भी लड़ाई है। इंटरनेट आधारित नई-नई सुविधाओं और सूचनाओं के विस्फोट ने आतंकवादियों को वह शक्ति दे दी है जो उन्हें पहले प्राप्त नहीं थी। मुंबई के आतंकवादी हमलों के दौरान जब पूरी दुनिया साँस रोके टेलीविज़न के ज़रिये आतंकवादियों के कारनामों पर नज़र लगाए हुए थी, ठीक उसी समय ताज और ट्राइडेंट होटलों तथा नरीमन हाउस में घुसे आतंकवादी विश्व भर में फैले डर, आशंका और नफरत को देखकर आनंदित हो रहे थे। होटलों के केबल कनेक्शन काट दिये जाने के बाद भी वे अपने-अपने स्मार्टफोनों के ज़रिये बाहरी दुनिया से लगातार जुड़े हुए थे। वे न सिर्फ सेटेलाइट फोन के माध्यम से पाकिस्तान स्थित नियंताओं से लगातार निर्देश ले रहे थे, बल्कि इंटरनेट पर उपलब्ध खबरों और संवेदनशील सूचनाओं से भी अवगत हो रहे थे। आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध में एक नई चुनौती यह है कि आज का आतंकवादी आधुनिकतम तकनीक से परिचित है और अपना 'मिशन' पूरा करने के लिये मोबाइल फोन, जीपीएस युक्त गैजेट्स, ई-मेल तथा इंटरनेट जैसे साधनों को बतौर हथियार इस्तेमाल करने में सक्षम है, वहीं दूसरी ओर, सामान्य सुरक्षा कर्मियों का तकनीकी ज्ञान सीमित है।

ज़्यादातर आतंकवादी हमलों की ज़िम्मेदारी लेने का दावा और हमलों की धमकियाँ ई-मेल के ज़रिये ही मिलती रही हैं। ऐसा इसलिये है क्योंकि जहाँ टेलीफोन से की जाने वाली कॉलों की पुख्ता जाँच-पड़ताल संभव है, वहीं ई-मेल भेजने वाले का पता लगाना बेहद मुश्किल है। खासतौर पर तब जब ई-मेल भेजने के लिये किसी अन्य के ई-मेल खाते और इंटरनेट कनेक्शन को 'हैक' कर लिया गया हो। अब तो आतंकवादी रीमेलर सेवाओं (Remailer Services) के ज़रिये भी संदेश भेजने लगे हैं जो शृंखलाबद्ध ढंग से अनेक इंटरनेट ठिकानों से होते हुए अपने गंतव्य तक पहुँचते हैं। आम ई-मेल खातों में जहाँ प्रेषक कंप्यूटर के आईपी एड्रेस का पता लगाना संभव है, वहीं इस तरह की आधुनिकतम सेवाओं में उसकी पहचान या स्थान गुमनाम बना रहता है।

इसी गुमनामी भरे खतरे को शब्द देती किसी शायर की ये पंक्तियाँ बहुत प्रासंगिक हैं-

"पाते हैं जिनको हम
बहुधा
अरक्षित,
होते हैं कभी-कभी
केवल वे
सुरक्षित।
देखो न!
आहट मिलते ही
दुबक गया अपने कवच में वह
घाघ।"

DOFR CLASSES

Scanned by CamScanner

इंटरनेट के ज़रिये युवकों को बहलाने-फुसलाने और आतंकवादी गतिविधियों का प्रचार करने का सिलसिला कोई नया नहीं है। मिसाल के तौर पर सितंबर 2003 में इंटरनेट पर एक चैट रूम में 'रिडेम्पशन इज़ क्लोज़' (Redemption is close) नामक व्यक्ति के इस पोस्ट को देखा जा सकता है–

'भाइयों, मैं जेहाद के लिये इराक कैसे जा सकता हूँ? क्या वहाँ पर कोई फौजी शिविर है और क्या कोई उन्हें नियंत्रित करता है?'

चार दिन बाद 'मर्सीलेस टेररिस्ट' नामक एक व्यक्ति ने इसका जवाब पोस्ट किया।

'प्रिय भाई, रास्ता खुला है। वहाँ कई समूह हैं, जाओ और जो भी तुम्हें भरोसेमंद लगे उसमें शामिल हो जाओ। वह इराकी भूमि का रक्षक होगा। अल्लाह के फज़ल से एक दिन तुम मुजाहिदीन बन जाओगे।'

'रिडेम्पशन इज़ क्लोज़' ने इराक जाकर जेहाद में शामिल होने के लिये सटीक सूचना देने पर ज़ोर दिया तो 'मर्सीलेस टेररिस्ट' ने उसे एक आतंकवादी वीडियो भेजा और 'पैल टॉक' नामक सॉफ्टवेयर डाउनलोड करने के लिये कहा। इस सॉफ्टवेयर के ज़रिये दूसरों की नज़र में आए बिना इंटरनेट आधारित वार्तालाप संभव है।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है कि किस तरह आतंकवादी संगठन अपने तौर-तरीके बदल चुके हैं। प्रशासनिक नियंत्रण या निगरानी का अभाव, अपनी पहचान प्रकट न करने की आज़ादी और दुनिया भर में फैले करोड़ों लोगों तक पहुँचने की क्षमता ने इस्लामिक स्टेट (ISIS) और अल-कायदा से लेकर लश्करे तैयबा तथा नक्सलियों तक को इंटरनेट की ओर आकर्षित किया है।

ऐसा लगता है कि आतंकवादी संगठन अपने प्रचार-प्रसार के लिये इंटरनेट का प्रयोग करने में महारत हासिल कर चुके हैं। आतंकवादी हमलों, भाषणों और प्रशिक्षण से जुड़े ऑनलाइन वायरल वीडियोज़ इंटरनेट पर खूब प्रचलित हुए हैं। इनमें कई पश्चिमी बंधकों के सिर काटे जाने के वीडियो शामिल हैं। ऐसे वीडियो भी उपलब्ध हैं जिनमें आत्मघाती हमलों में मारे गए आतंकवादियों को जन्नत में ऐशो-आराम करते दिखाया गया है। अमेरिकी सुरक्षा विशेषज्ञों के अनुसार, आज इंटरनेट पर आतंकवादी संगठनों से जुड़ी हज़ारों वेबसाइटें मौजूद हैं। इनमें खबरों, विश्लेषणों, लेखों, साक्षात्कारों, वीडियो और चित्रों की भरमार है। इनमें दिखाया जाता है कि अफगानिस्तान, इराक, कश्मीर, फिलिस्तीन आदि स्थानों पर 'जेहादियों की जीत बहुत करीब' है। इस्लामिक स्टेट ने अपनी भावी खिलाफत (खलीफा के अधीन साम्राज्य) का जो नक्शा जारी किया है, उसमें भारत सहित आधी दुनिया को उसके अधीन बताया गया है।

भारत के अनेक युवक इस्लामिक स्टेट की विचारधारा से प्रभावित होकर इराक और सीरिया जाने की कोशिश कर चुके हैं। कुछ इसमें कामयाब भी हुए। वे या तो इराक या सीरिया में लड़ते हुए मारे गए या फिर मोहभंग के बाद देश लौट आए। महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में ऐसे कई युवकों को पहचाना गया है। ये घटनाएँ गंभीर और चिंताजनक हैं। ये घटनाएँ आने वाले दिनों में आतंकवाद और आंतरिक सुरक्षा की बढ़ती चुनौती की तरफ संकेत करती हैं और संयोगवश, ऐसे सभी युवक इस्लामिक स्टेट के साथ संपर्क करने के लिये इंटरनेट आधारित सेवाओं का इस्तेमाल करते रहे हैं।

सोशल मीडिया का बेरोकटोक इस्तेमाल आंतरिक सुरक्षा के लिये गंभीर चुनौतियाँ लेकर आ रहा है। फिलहाल, दुनिया की कोई भी सरकार इस समस्या का कोई ठोस समाधान नहीं तलाश पाई है। लेकिन सोशल मीडिया के दुरुपयोग के जिन्न को खुला नहीं छोड़ा जा सकता। वह बार-बार बोतल से बाहर आ जाता है। कहीं ऐसा न हो कि एक दिन उसे फिर से बोतल में बंद करना नामुमकिन हो जाए।

अत: सरकार को सोशल मीडिया के प्रयोग को रचनात्मक निर्माणकारी गतिविधियों की ओर मोड़ना होगा, इसके लिये आवश्यक है कि सोशल मीडिया पर 'सूचना के विस्फोट' का सही तरीके से नियमन हो तथा सोशल मीडिया के सकारात्मक पक्षों को सबल बनाकर सोशल मीडिया से उत्पन्न होने वाले डर पर विजय प्राप्त की जाए। ■■■

DOFR CLASSES

Scanned by CamScanner

महिला शक्तिसम्पन्नीकरण : चुनौतियाँ और सम्भावनाएँ।

प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका जेर्मेन ग्रीर का मानना है *"पुरुष अगर आज बदला हुआ नज़र आता है तो इसलिये नहीं कि वह 'फेमिनिस्ट' (नारीवादी) रवैया अख्तियार कर रहा है- वस्तुतः वह आर्थिक दबावों के कारण उदार नज़र आ रहा है।"* और यह सच भी है कि औरत की आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता ने पुरुष का जीवन कहीं ज़्यादा सहज और आसान बनाया है। वह पुरुष चाहे पिता हो, भाई हो या पति। लेकिन यह विडंबना ही है कि भारतीय समाज में खास तौर पर पुरुष के लिये महिलाओं की यह स्थिति स्वीकार कर पाना बहुत ही अपमानजनक हो गया है। परिस्थितियों के विरुद्ध अनेक चुनौतियों से लड़ती अकेली स्त्री के संघर्षों को पुरुष ने अपने पूर्वाग्रहों के कारण और ज़्यादा चुनौतीपूर्ण बना दिया है। स्त्री का संघर्ष किसी भी मायने में पुरुष के खिलाफ संघर्ष नहीं है, बल्कि उसके साथ एक बराबर के व्यक्ति के तौर पर संबंध बनाने का प्रयास है। वस्तुतः स्त्री के तमाम संघर्ष पुरुष के खिलाफ न होकर उन तमाम स्थितियों के खिलाफ हैं जो उसे कभी शक्ति सम्पन्न होने ही नहीं देते। जहाँ उसके सशक्त होने के हर प्रयास का दमन कर दिया जाता है।

अक्सर सभी महिलाओं को इस आधार पर सशक्त मान लिया जाता है कि फलाँ महिला देश की प्रधानमंत्री बन गई, फलाँ महिला देश की सबसे बड़ी व सबसे पुरानी राजनीतिक पार्टी की अध्यक्ष है, फलाँ महिला किसी कंपनी की सीईओ बन गई है आदि। ऐसे तर्क देकर यह साबित करने की पूरी कोशिश की जाती है चूँकि अमुक क्षेत्रों में महिलाएँ सर्वश्रेष्ठ पदों पर पहुँच चुकी हैं इसलिये भारत में भी महिलाएँ सशक्त हो रही हैं और शक्ति संपन्नीकरण की तरफ बढ़ रही हैं। हमने उंगली पर गिनी जा सकने वाली चंद शक्ति-संपन्न सफल एक या दो प्रतिशत महिलाओं के आधार पर महिलाओं को सशक्त ठहराने की कोशिशें तो भरपूर कीं, परन्तु क्या कभी उन 98 प्रतिशत महिलाओं के बारे में सोचा जो 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' लिये अपने अस्तित्व की खोज में, मुक्ति की तलाश में दर-बदर भटकने को मजबूर हैं? शक्ति उसको दी जाती है जिसकी कुछ सत्ता हो परन्तु यहाँ तो महिलाएँ जीवन के सामान्य साधन ही जुटा लें यही बड़ी बात है। खासकर उस समाज में जहाँ उन्हें एक वस्तु से इतर कुछ नहीं समझा जाता, एक सामान्य नागरिक भी नहीं। पुरुषों की युगों-युगों की सत्ता, जिसके इतिहास, वर्तमान और भविष्य सब के मूल में पुरुष है, उस पुरुष की सत्ता को छीनने का दुस्साहस एक कमज़ोर महिला करे यह कैसे संभव है। मर्दवादी अहं इसे कैसे स्वीकार कर लेगा भला। महिलाओं को दिये गए राजनीतिक अधिकारों में पुरुष ने किस तरह से पैठ बनाई है, उसमें कुछ पदों का यह नमूना देखने से पता चल जाएगा जहाँ महिला भले ही प्रधान बनी हो मगर निर्णय 'प्रधानपति' ही करेंगे, वह तो मात्र हस्ताक्षर करने के लिये ही बनी है और कमोबेश यही स्थिति विधायक और सांसद पत्नियों की भी है। सांसद, विधायक या फिर प्रधान महिला पति के विरुद्ध जाए इसकी कल्पना भी उसके लिये असंभव है।

हालाँकि महिला शक्ति सम्पन्नीकरण की जितनी चुनौतियाँ हैं, संभावनाएँ भी उतनी ही ज़्यादा हैं क्योंकि पिछले सौ वर्ष और वर्तमान की महिलाओं की स्थिति की तुलना करें तो कुछ सकारात्मक मूलभूत बदलाव ज़रूर आए हैं और

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

पितृसत्तात्मक व्यवस्था की दीवारें भी हिली हैं। उनके शोषण के असहनीय तरीकों में बहुत ही सकारात्मक बदलाव आए हैं। विभिन्न खेलों से लेकर सेना, राजनीति, मीडिया और फिल्में हर जगह महिलाओं की भागीदारी बढ़ रही है। परिवर्तन चाहे सोच में हो चाहे समाज में एक दिन में नहीं लाया जा सकता, इसमें सदियाँ लग जाती हैं। शूद्र, दलित, स्त्री इन तीनों के प्रति व्यवहार में आज़ादी के पहले और उसके बाद की परिस्थितियों में काफी फर्क आया है। दमित और उपेक्षित इन तीनों वर्गों के प्रति समाज के नज़रिये में तो बदलाव आया ही है, साथ ही साथ हमारे नीति-निर्माताओं ने ऐसे समाज की रचना की, ऐसे नियम-कानून बनाए, संविधान में आरक्षण की ऐसी व्यवस्था की गई तथा ऐसे ही अन्य कानूनी प्रावधान किये गए जिससे इन वर्गों को अधिकार भी मिल रहे हैं; ये आर्थिक रूप से सशक्त भी हो रहे हैं और समाज की मुख्य धारा में शामिल भी हो रहे हैं। परंतु, ज़मीनी हकीकत यही है कि मुख्य धारा में शामिल होने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य ही है। हमारे वर्तमान संविधान में तो महिलाओं के लिये, उनके हितों की रक्षा के लिये विभिन्न प्रावधान कर दिये गए परन्तु यह विडंबना ही है कि व्यावहारिक रूप में इन प्रावधानों की स्वीकार्यता न के ही बराबर है। नारीवादी विमर्शों और महिला अधिकारों के लिये किये गए विभिन्न आंदोलनों में दो स्तरों पर स्त्रियों के अधिकारों की वकालत की गई है। पहला, निजी पसंद-नापसंद के आधार पर और दूसरा, सामूहिक अधिकारों के स्तर पर निजी अधिकारों के तहत। जिस बात पर बहस सबसे ज़्यादा हुई है वह है स्त्री का अपने शरीर पर अधिकार, जहाँ उसकी यौन स्वतंत्रता उसकी इच्छाओं से जुड़ी है, उसका शरीर उसके पति की मिल्कियत नहीं है बल्कि इस पर सबसे पहला अधिकार स्वयं उस स्त्री का ही है बाकी चीज़ें उसकी इच्छा पर ही निर्भर हैं।

सामूहिक अधिकारों के तहत नारीवाद ने पैतृक संपत्ति में लड़कियों की समान भागीदारी, यातनादायी और उत्पीड़क वैवाहिक संबंधों से अलग होने के लिये तलाक का अधिकार, स्त्रियों के सम्मानजनक रोज़गार, समान काम के लिये पुरुषों के समान वेतन और समाज तथा राजनीति के स्तर पर निर्णयों में समान भागीदारी के मुद्दे उठाए हैं। परन्तु सिद्धांत और विचार के स्तर पर जिन स्त्री अधिकारों को स्थापित करने में सफलता मिली है उन्हें परिवार और समाज के स्तर पर अभी आमतौर पर व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका है। स्त्री-विरोधी तमाम मूल्य इतने ठोस तरीके से समाज में स्थापित हो गए हैं कि इनकी जड़ों को हिलाना इतना आसान काम नहीं है। राज्य के अधिकारी वर्ग, पुलिस और कानून द्वारा भी स्त्री के साथ जो भेदभाव और दुर्व्यवहार किया जाता है वह औरत को सभी प्रकार के अपमान और अनाचार को सहने के लिये विवश करता है। समानता और स्वतंत्रता की सुन्दर शब्दावलियाँ गढ़ने में दक्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रशासन तंत्र में भी स्त्रियों की भागीदारी सिर्फ 15 प्रतिशत ही है। दुनिया के अव्वल माने जाने वाले 96 देशों के विधानमण्डलों में उन्हें अभी तक सिर्फ 10 प्रतिशत जगह ही मिल पाई है। अमेरिका जैसे देश में भी महिलाएँ हमेशा घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं अथवा इस आशंका से आशंकित रहती हैं। पाकिस्तान नाभिकीय अस्त्र बनाकर भले ही खुद के प्रगतिशील होने का दावा करे मगर वहाँ की न्याय व्यवस्था का हश्र आज भी यह है कि वहाँ दो महिलाओं की गवाही को एक पुरुष के बराबर माना जाता है और वहाँ 70 प्रतिशत महिला अपराधी जिन जुर्मों में सज़ा काट रही हैं उन्हें पुरुषों के संबंध में अपराध माना ही नहीं जाता है। भारत में प्रति हज़ार पुरुषों पर महज़ 943 महिलाएँ ही बची हैं। भारत में हर 20वीं औरत जीवन की किसी-न-किसी अवस्था में आत्महत्या का प्रयास करती है। युद्ध से होने वाले विस्थापन के शिकार दुनिया भर के शरणार्थियों में औरतें और बच्चे हैं। स्त्री के विरुद्ध इस्तेमाल किया जाने वाला सबसे क्रूर हथियार बलात्कार है।

यह सच है, महिलाओं को दिये गए शक्ति और अधिकार प्रभावी सिद्ध नहीं हो रहे हैं, परन्तु इन चुनौतियों के बीच एक संभावना की खोज अवश्य की जा सकती है। स्त्री-अधिकार का सीधा संबंध 'जीने के अधिकार' से है इसलिये इसे खेत-ज़मीन, पर्यावरण संरक्षण तथा मज़दूर आंदोलनों से जोड़े जाने की ज़रूरत है। अंतर्राष्ट्रीय और स्थानीय स्तरों पर एक गैर-सरकारी स्त्री आयोग बने जो निगरानी और दबाव समूह का काम करे। प्रशासन और पुलिस जहाँ न्याय दिलाने में अक्षम साबित हो वहाँ यह आयोग न्याय प्रक्रिया में सीधा हस्तक्षेप कर सके। स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई समाज के भीतर रहकर ही लड़नी है। स्त्री को सशक्त बनाने का लक्ष्य उसे एक 'प्रति-पुरुष' बनाना नहीं बल्कि स्त्री और पुरुष के बीच अधिकतम समानता पर टिके एक ऐसे समाज की रचना करना है जहाँ स्त्री पुरुष से एक दर्जा नीचे रहने के दर्द से स्थायी रूप से मुक्त हो सके। ■■■

DOE CLASSES

Scanned by CamScanner

धर्म और नैतिकता : सहयोगी या विरोधी?

"तय कौन करेगा
नैतिक-अनैतिक के मानदंड
वे जो आसीन हैं
मठों की बड़ी पदवियों पर
या धर्मग्रंथों के
उलझे सूत्रों से
निष्कर्ष ढूंढे जाएंगे
नैतिक होने की शर्तों में क्या
अनिवार्य हैं धर्म और पंथ
यदि ऐसा है तो शायद
संदेह है मेरे नैतिक होने पर"

हम बचपन से ही यह गीत सुनते हुए बड़े होते हैं कि 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना'। हम जिस स्कूल में पढ़ते थे, वहाँ भी रोज़ सुबह ईश्वर की प्रार्थना की जाती थी और प्रायः सभी प्रार्थनाओं में समस्त विश्व के कल्याण की कामना विद्यमान थी। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का सपना लगभग सभी धर्मों की प्रार्थनाओं में मौजूद है। हमने यह भी बार-बार देखा होगा कि किसी मंदिर, मस्जिद या चर्च के निर्माण में लोग खुलकर आर्थिक व अन्य सहयोग देते हैं और ये धार्मिक संस्थाएँ भी कई मौकों पर सामाजिक कार्यों में बढ़-चढ़ कर भाग लेती हैं। यह भी सच है कि हर धर्म अपने अनुयायियों के लिये एक आचरण संहिता बनाता है जिसका उद्देश्य व्यक्तियों को नैतिक पथ पर चलने के लिये दिशा-निर्देश देना है। उदाहरण के लिये, जैनों और वैष्णव हिंदुओं को सिखाया जाता है कि पशु हत्या पाप है। इसी प्रकार, मुसलमानों तथा कैथोलिक ईसाइयों को सिखाया जाता है कि ब्याज की कमाई हराम है। सभी धर्म सिखाते हैं कि व्यक्ति को अपने माता-पिता तथा परिवारजनों की ज़रूरतों की पूर्ति के लिये त्याग करने से पीछे नहीं हटना चाहिये। इन सारे उदाहरणों को देखकर हमारी प्राथमिक समझ यही बनती है कि धर्म बुनियादी तौर पर नैतिकता को प्रोत्साहित करने का माध्यम है।

पर दूसरी तरफ हमें कुछ और भी सच्चाइयाँ दिखती हैं जिनसे नज़र फेरना संभव नहीं है। उदाहरण के लिये, आजकल 'इस्लामिक स्टेट' के लड़ाके शेष धर्मों के अनुयायियों तथा शिया मुसलमानों को बेदर्दी से मार रहे हैं और उनकी नज़र में यह संपूर्ण लड़ाई धर्म के लिये ही लड़ी जा रही है। हमारे देश में भी कई बार ऐसे भयानक सांप्रदायिक दंगे हुए हैं जिनमें हज़ारों बेकसूर लोगों का कत्ल हुआ है, चाहे वे 84 के हिंदू-सिख दंगे हों या 93 के हिंदू-मुस्लिम दंगे। देश के कई हिस्सों में बात-बात पर धार्मिक तनाव हो जाने की घटनाएँ भी हम देखते रहते हैं। इस तनाव को झेल चुके शहरों जैसे- भागलपुर, अहमदाबाद, गोधरा, मेरठ, कंधमाल तथा मुज़फ्फरनगर के नाम गिनना शुरू करेंगे तो यह सूची लंबी होती जाएगी। कुछ लोग तो व्यंग्य में यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'मज़हब ही सिखाता है आपस में बैर रखना'।

दरअसल, दोनों तरफ के उदाहरण इतने अधिक और परस्पर विरोधी हैं कि किसी एक सीधे-सपाट निष्कर्ष पर पहुँचना आसान नहीं है। इसलिये नैतिक विचारकों के सामने यह दुविधा बनी ही रहती है कि धर्म और नैतिकता एक-दूसरे

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner

के सहयोगी हैं या विरोधी? क्या नैतिक होने के लिये धार्मिक होना ज़रूरी है या कोई बिना धार्मिक हुए भी नैतिक हो सकता है? क्या ऐसा भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति धार्मिक होकर भी अनैतिक हो? इन्हीं सारी उलझनों के कारण यह प्रश्न हर किसी को मथता है कि धर्म और नैतिकता के बीच क्या संबंध है?

यहाँ यह साफ कर देना ज़रूरी है कि यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग मज़हब, संप्रदाय या पंथ (Sect) वाले अर्थ में ही किया गया है, 'नैतिकता' वाले अर्थ में नहीं। गौरतलब है कि भारतीय परंपरा में 'धर्म' शब्द का प्रयोग दो संदर्भों में होता रहा है। एक संदर्भ वह है जहाँ धर्म का अर्थ अपने नैतिक दायित्वों का पालन करना होता है। उदाहरण के लिये, अगर कोई कहे कि मित्र का धर्म है कि वह संकट में फँसे अपने दोस्त की सहायता करे; या पिता का धर्म है कि वह अपनी संतान के समग्र विकास की कोशिश करे और शासक का धर्म है कि वह समुचित प्रशासनिक व्यवस्था कायम करे- तो इन सभी संदर्भों में 'धर्म' 'नैतिकता' का पर्यायवाची हो जाता है। युधिष्ठिर को धर्मराज इसी अर्थ में कहा जाता है कि एकाध अपवाद को छोड़कर वे जीवन भर अपनी नैतिक धारणाओं से विचलित नहीं हुए। धर्म शब्द का ऐसा ही प्रयोग मनु ने धर्म की परिभाषा देते हुए किया है जिसमें वे कहते हैं- *"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः, धीर्विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणम्"* अर्थात् धर्म के 10 लक्षण हैं- धैर्य, क्षमा, मन पर नियंत्रण, चोरी न करना, सफाई से रहना, इंद्रियों पर नियंत्रण रखना, बुद्धिमान होना, ज्ञानवान होना, सत्य बोलना और क्रोध न करना। कुछ-कुछ ऐसी ही धारणा मध्यकाल में तुलसीदास ने यह कहकर व्यक्त की कि *'परहित सरिस धरम नहि भाई, पर पीड़ा सम नहि अधमाई'* अर्थात् दूसरों की सहायता से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है।

जहाँ तक 'धर्म' के उपरोक्त अर्थ की बात है, कोई भी समझ सकता है कि यह धारणा नैतिकता की समानार्थक है। किंतु यहाँ बुनियादी प्रश्न यह है कि जिस अर्थ में हम अपने सामाजिक जीवन में धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, उस धर्म और नैतिकता के बीच क्या संबंध है? दूसरे शब्दों में, जब कोई हमसे पूछता है कि आप किस धर्म को मानते हैं तो स्वाभाविक तौर पर हमारा उत्तर हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध या जैन होता है। धर्म शब्द का यह अर्थ जिसमें धर्म और मज़हब पर्यायवाची शब्द हैं, इस चर्चा का प्रस्थान बिंदु है। अतः मूल विषय यह है कि अगर कोई मज़हब से हिंदू, मुसलमान या सिख है तो इससे उसके नैतिक होने या न होने की संभावनाओं पर क्या असर पड़ता है? मेरी मज़हबी आस्थाएँ मुझे नैतिक होने में सहायता पहुँचाती हैं या मुझे नैतिक होने से रोकती हैं?

सही बात यह है कि धर्म और नैतिकता दो स्वतंत्र अवधारणाएँ हैं जिनमें से किसी-का किसी पर टिके होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, इनके बीच वे सभी संबंध संभव हैं जो तार्किक स्तर पर हम किन्हीं भी दो धारणाओं के बीच सोच सकते हैं। जैसे- कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं जो गहरे स्तर पर धार्मिक हों और उसी स्तर पर नैतिक भी हों। उदाहरण के लिये, महात्मा गांधी, गौतम बुद्ध, वर्द्धमान महावीर, गुरु नानक, कबीरदास, ईसा मसीह जैसे महापुरुष न सिर्फ अपनी धार्मिक गहराई के लिये जाने जाते हैं बल्कि अपनी मज़बूत और सामान्यतः विचलनहीन नैतिकता के लिये भी। इन सभी ने धर्म के माध्यम से ही अपनी नैतिकता को परिभाषित किया है।

कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो धार्मिक तो हैं पर नैतिक की बजाय अनैतिक रास्तों पर चलते हैं। उदाहरण के लिये, जो धर्मगुरु बलात्कार जैसे मामलों में दोषी पाए जाते हैं, वे धार्मिक होते हुए भी अनैतिक ही माने जाएंगे। इसी प्रकार, यदि कोई धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म की कुरीतियों का निष्ठापूर्वक पालन करता है तो वह एक साथ धार्मिक और अनैतिक होगा। जैसे धार्मिक परंपरा के नाम पर किसी आदिम धर्म के लोगों द्वारा नरबलि का आयोजन करना धार्मिक आचरण होकर भी अनैतिकता का उदाहरण ही माना जाएगा। हर समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो अधार्मिक होकर भी बेहद नैतिक होते हैं। इन्हीं लोगों की धारणा को 'धर्मनिरपेक्ष नैतिकता' कहा जाता है। उदाहरण के लिये, भगत सिंह पूरी तरह धर्मविरोधी व्यक्ति थे किंतु उन्होंने देश की आज़ादी के लिये अपना जीवन कुर्बान कर दिया। ऐसे व्यक्ति के बारे में यही मानना पड़ेगा कि वह धर्म को खारिज़ करके भी बहुत गहरे स्तर पर नैतिक व्यक्ति है। कॉपरनिकस, गैलीलियो और ब्रूनो जैसे व्यक्तियों को भी सामान्यतः इस वर्ग में रखा जा सकता है। अंतिम वर्ग में वे लोग आते हैं जो न तो धार्मिक हैं और न ही नैतिक। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति अपनी वासनाएँ संतुष्ट करने के लिये अभ्यस्त अपराधी बन

Scanned by CamScanner

चुका है तथा किसी भी धर्म में उसकी निष्ठा नहीं है तो ऐसे व्यक्ति के लिये यही मानना होगा कि वह न तो धर्म से जुड़ा है और न ही नैतिकता से। अब एक प्रश्न यह भी है कि अगर कोई व्यक्ति धार्मिक होकर भी नैतिक हो सकता है और अधार्मिक होकर भी; तो इनमें से ज़्यादा अच्छा विकल्प कौन-सा है? हम 'धार्मिक नैतिकता' को बेहतर मानें या 'धर्मनिरपेक्ष नैतिकता' को?

धार्मिक नैतिकता के समर्थक विश्व के सभी देशों में मौजूद हैं और उनका दावा है कि नैतिक होने के लिये धार्मिक होना ज़रूरी है। इस दावे की पुष्टि के लिये वे अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका पहला तर्क यह है कि जो मज़बूती धर्म पर टिकी नैतिकता में होती है, वह धर्मनिरपेक्ष नैतिकता में नहीं हो सकती। इस तर्क का समर्थन महात्मा गांधी सहित बहुत से विचारकों ने किया है। गांधी जी ने कई बार कहा कि यदि हम बुद्धि या तर्क के स्तर पर नैतिक-अनैतिक का फैसला करते हैं तो इसमें दिक्कत यह है कि हमारी बुद्धि बहुत बड़े लालच और भय के सामने कमज़ोर पड़ जाती है। उदाहरण के लिये, अगर कोई प्रशासनिक अधिकारी ईमानदारी से काम करना चाहता है किंतु उसकी ईमानदारी धार्मिक संस्कारों पर नहीं बल्कि दिमागी तर्कों पर टिकी है तो बहुत संभावना है कि किसी गंभीर धमकी या बड़े प्रलोभन के सामने उसकी ईमानदारी दम तोड़ देगी। अगर कोई अपराधी उसे कह दे कि मेरा टेंडर पास कर दो, नहीं तो तुम्हें और तुम्हारे परिवार को जान से मार दूँगा तो तय है कि उसकी बुद्धि विचलित होने लगेगी। बुद्धि का कार्य ही यह है कि वह किसी परिस्थिति में उपलब्ध विभिन्न विकल्पों को तौलती है और गुणा-भाग करके व्यक्ति को समझाती है कि उसका अधिकतम फायदा किस विकल्प को अपनाने में है। जब तक नैतिक विकल्प व्यक्ति को फायदा पहुँचाते हैं, तब तक बुद्धि उनका समर्थन करती है किंतु जब नैतिक विकल्प नुकसान पहुँचाने लगते हैं तो प्रायः हमारी बुद्धि नैतिक रास्ते को छोड़ने की सलाह देने लगती है। अंततः व्यक्ति चाहे जो निर्णय करे, इतना तय है कि बुद्धि पर टिकी नैतिकता विचलन से मुक्त नहीं रह पाती।

इसके विपरीत, यदि व्यक्ति गहरी धार्मिक निष्ठा रखता है और उसे इस बात पर अखंड विश्वास है कि ईश्वर ही संपूर्ण जगत का नियंता है और उसकी मरज़ी के बिना यहाँ एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है तो उसके मन में एक अद्‌भुत आत्मविश्वास रहता है। ऐसी धार्मिक निष्ठा वाले लोग नैतिक-अनैतिक का फैसला इस आधार पर करते हैं कि उनके धर्म द्वारा घोषित नैतिक मानदंड क्या हैं? उनके धर्म द्वारा जिस आचरण को नैतिक होने का प्रमाण-पत्र मिला होता है, वे बिना किसी विचलन या द्वंद्व के उसे जीवन भर दोहराते रहते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो ऐसे व्यक्तियों के नैतिक निर्णय विचारों से नहीं, संस्कारों से तय होते हैं। संस्कार बचपन में सिखाई गई वे आदतें हैं जो बार-बार दोहराई जाने के कारण व्यक्ति के अवचेतन मन में इस तरह से बैठ जाती हैं कि वह ज़िंदगी भर बिना दिमाग लगाए उन्हें दोहराता रहता है, भले ही उन व्यवहारों से उसे व्यक्तिगत स्तर पर नुकसान होता हो।

धार्मिक नैतिकता के समर्थकों के पास दूसरा तर्क यह है कि जब तक हम किसी-न-किसी स्तर पर कर्म सिद्धांत को स्वीकार न कर लें, तब तक विश्व में नैतिक व्यवस्था नहीं चल सकती। कर्म सिद्धांत का सरल-सा अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके नैतिक व अनैतिक कर्मों के अनुपात में अच्छे तथा बुरे फल मिलने अनिवार्य हैं। यह सिद्धांत किसी-न-किसी रूप में सभी संगठित धर्म स्वीकार करते हैं। जैसे, यहूदी, ईसाई और मुसलमान श्रद्धालु मानते हैं कि व्यक्ति को एक ही जीवन मिलता है और उस जीवन में किये गए कर्मों के अनुसार ईश्वर (जाहवे, गॉड या अल्लाह) तय करते हैं कि व्यक्ति स्वर्ग (जन्नत) का अधिकारी है अथवा नर्क (जहन्नुम) का। इसके विपरीत, हिंदू, सिख, जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी कर्म सिद्धांत में पुनर्जन्म का सिद्धांत जोड़ देते हैं। इसका मतलब है कि व्यक्ति ने इस जन्म में जो अच्छे या बुरे कृत्य किये हैं, उन्हीं के आधार पर उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है और अगले जन्म में उन कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जब तक उसके कर्मों का हिसाब पूरा नहीं होता, वह भिन्न-भिन्न जीव-जंतुओं के रूप में जन्म लेता रहता है और जब यह हिसाब पूरा हो जाता है, तब वह स्थायी रूप से मुक्त हो जाता है। इस स्थायी मुक्ति को ही इन धर्मों में 'मोक्ष', 'निर्वाण', 'कैवल्य' या 'अपवर्ग' कहा जाता है।

धर्मनिष्ठ विचारकों का दावा है कि कर्म सिद्धांत, चाहे वह किसी भी रूप में हो, नैतिक व्यवस्था को बनाए रखने में मददगार साबित होता है। हम संसार में देखते हैं कि अनैतिक जीवन जीने वाले कई व्यक्ति नैतिक व्यक्तियों की तुलना

DOFPCLASSES

Scanned by CamScanner

में बेहतर स्थिति में रहते हैं। यह देखकर किसी भी नैतिक व्यक्ति के मन में विचलन पैदा हो सकता है कि जब अनैतिक होकर भी इस व्यक्ति को सारे सुख मिल रहे हैं तो मैं नैतिक क्यों बना रहूँ? वह बहुत गहरा विश्लेषण करने की स्थिति में नहीं होता, उसे एक ऐसे विश्वास की ज़रूरत होती है जिसकी डोर पकड़कर वह ऐसे विचलनों से बचा रह सके। ऐसे में अगर उसे बहुत गहराई से यह विश्वास हो कि बुरे व्यक्तियों को कभी-न-कभी अपने दुष्कर्मों का दंड भुगतना ही पड़ेगा और कभी-न-कभी नैतिक व्यक्तियों को नैतिक पथ पर चलने का लाभ मिलेगा ही मिलेगा तो नैतिक व्यवस्था पर उसका विश्वास बना रहता है। इसी बात को अलग-अलग धर्म अलग-अलग तरीकों से पेश करते हैं। चूँकि इस जगत में नैतिकता- अनैतिकता के अनुपात में सुख-दुःख का वितरण करना धर्म प्रबंधकों के बस में नहीं है, इसलिये वे इस न्याय को स्वर्ग, नर्क व पुनर्जन्म जैसे पारलौकिक विश्वासों से जोड़ देते हैं। इसीलिये अधिकांश धर्म दावा करते हैं कि नैतिक जीवन जीने पर व्यक्ति को जन्नत नसीब होगी जिसमें उसे सभी संभव सुख उपलब्ध होंगे जबकि गंदे व्यक्तियों को जहन्नुम में जाना होगा और वहाँ उन्हें खौलते तेल की कढ़ाई में डाला जाएगा। ये लालच और खौफ इसीलिये पैदा किये जाते हैं, ताकि इनके प्रभाव में व्यक्ति नैतिक रास्ता चुने और अनैतिक कार्यों से खुद को दूर रखे।

कई धर्मनिष्ठ विचारकों का दावा है कि जब तक हम किसी-न-किसी रूप में कर्म सिद्धांत को न मान लें, तब तक नैतिक व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती। 18वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट ने भी माना है कि नैतिक व्यवस्था में विश्वास बनाए रखने के लिये कर्मफल की धारणा को मानना ज़रूरी है। भारत की बात करें तो गीता में संकलित श्री कृष्ण के उपदेश का तो सार ही यह है कि प्रत्येक कर्म का फल मिलना अनिवार्य है। धार्मिक नैतिकता के समर्थकों के पास अपने पक्ष को स्थापित करने के लिये एक तर्क और है। उनका मानना है कि जैसे ही हम संपूर्ण विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति मान लेते हैं, वैसे ही जगत के हर प्राणी के प्रति हमारा नज़रिया नैतिक हो उठता है। अगर दुनिया का हर प्राणी ईश्वर की संतान है तो किसी भी प्राणी के प्रति हमारे मन में भ्रातृत्व का भाव उभरता है। हम उसके दुःख में दुःखी होते हैं और करुणा से भरकर उसका दुःख दूर कर देना चाहते हैं। इसी तरह, अगर पेड़-पौधे भी ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं तो उनके प्रति भी हमारे मन में ज़िम्मेदारी का अहसास पैदा होता है। किसी पेड़ को कटते हुए देखकर हमें उतनी ही पीड़ा होने लगती है जितनी किसी इंसान की मौत पर होती है। संपूर्ण विश्व के प्रति संबद्धता का यह भाव धार्मिक होकर ही महसूस किया जा सकता है। भारत में महात्मा गांधी और महर्षि अरविंद जैसे दार्शनिकों ने, तो पश्चिम में स्पिनोज़ा, ऐल्डो लियोपोल्ड तथा लोइस होप वॉकर जैसे धर्म विचारकों ने इस बिंदु पर धार्मिक नैतिकता की शक्ति को उजागर किया है। उनका दावा है कि धर्म से कटकर हम जगत की हर वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र रूप में ही देख पाते हैं और इस अहसास तक नहीं पहुँच पाते कि अंततः हर वस्तु और हर प्राणी आपस में सजातीय हैं।

इस विषय पर नॉर्वे के प्रसिद्ध विचारक आर्ने नेस ने गंभीर विश्लेषण किया है जिन्हें 'पारिस्थितिकी दर्शन' या 'ईकोलॉजिकल फिलॉसफी' का प्रवर्तक माना जाता है। उनका दावा है कि पर्यावरण के संकट का मूल कारण औद्योगीकरण या शहरीकरण नहीं बल्कि मनुष्य की वह मूलभूत चिंतन पद्धति है जिसमें वह स्वयं को प्रकृति से भिन्न और श्रेष्ठ मानता है। उन्होंने मुख्य रूप से अरस्तू और डेकार्ट जैसे पश्चिमी दार्शनिकों को इस चिंतन पद्धति के लिये ज़िम्मेदार ठहराया और दावा किया कि जब तक पश्चिम के लोग नए तरीके से प्रकृति को देखना शुरू नहीं करेंगे, तब तक पर्यावरण का संकट किसी भी सूरत में नहीं सुलझेगा। उन्होंने महात्मा गांधी के दर्शन की काफी सराहना की है और संकेत किया है कि प्रकृति को बचाने के लिये किसी ऐसे ही दर्शन की ज़रूरत है जिसमें प्रकृति और मनुष्य को ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ मानते हुए समान स्तर पर रखा जाता है। ऐल्डो लियोपोल्ड ने इसी धारणा को विस्तार देते हुए यहाँ तक कहा कि किसी समाज में प्रकृति की क्या दशा होगी, यह इस बात से तय होता है कि उसके धर्म में प्रकृति को कितना महत्त्व दिया गया है? भारत जैसे देशों में बहुत से लोग प्रकृति को ईश्वर का ही व्यक्त रूप मानते हैं, इसलिये प्रकृति का ध्यान रखना उनके लिये धार्मिक कर्त्तव्य बन जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है कि कई महिलाएँ रात को पेड़-पौधों से पत्ते तोड़ने से बचती हैं; और अगर कभी तोड़ना ज़रूरी हो जाए तो पहले दो-तीन चुटकियाँ बजाकर पेड़ या पौधे को नींद से जगाती हैं। पेड़-पौधों के प्रति इतनी संवेदनशीलता का होना मज़ाक नहीं है। पीपल की पूजा करने जैसे उदाहरण भी इसी बात

Scanned by CamScanner

के प्रमाण हैं कि प्रकृति ईश्वर का ही व्यक्त रूप है। इसके विपरीत, कुछ धर्मों में माना जाता है कि ईश्वर ने मानव के सुख के लिये प्रकृति का निर्माण किया है। इस धारणा में ही निहित है कि प्रकृति एक साधन है जबकि मनुष्य उसका साध्य है। ऐसे विश्वासों पर टिके समाज में प्रकृति का विनाश हो तो किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

धार्मिक नैतिकता कैसे प्रकृति के अनुकूल हो सकती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारत का बिश्नोई समुदाय है जो मुख्यतः राजस्थान और हरियाणा राज्यों में केंद्रित है। इस समुदाय की धार्मिक आस्थाओं में पर्यावरण और प्रकृति के प्रति इतनी गहरी निष्ठा है कि ये लोग पर्यावरण की रक्षा के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने में भी नहीं हिचकिचाते। बहुत से ऐसे विचारक हैं जिनका मानना है कि सच्ची नैतिकता धर्म से तटस्थ होती है, न कि उस पर आधारित। वे यहाँ तक कहते हैं कि धर्म पर टिकी नैतिकता तो कई मायनों में अनैतिक होती है। उदाहरण के लिये, कई आदिम धर्मों में आज भी नरबलि की प्रथा विद्यमान है, क्या उनकी इस प्रथा को भी धार्मिक होने के कारण नैतिक माना जाए? इसी तरह, कई संगठित धर्म भी पशु-बलि की आदिम प्रथा को आज तक ढो रहे हैं जिसे नैतिक मानने में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। इन विचारकों का दावा है कि कई धार्मिक परंपराएँ समाज में किसी प्रभुत्वशाली वर्ग को फायदा पहुँचाने की नीयत से बनाई गई हैं और धर्म का अंधानुकरण करने वाले किसी-न-किसी रूप में शोषण की इस प्रक्रिया को मज़बूती प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिये, इस्लाम में महिलाओं के बुरका पहनने की बात हो या हिंदू धर्म में पर्दा प्रथा हो, दोनों ही धार्मिक नैतिकता के नाम पर महिलाओं की बुनियादी आज़ादी छीन लेते हैं। विक्टोरियन युग में यूरोप की महिलाओं की भी ठीक यही हालत थी। वे भी बुरके जैसा कपड़ा पहनती थीं और अगर उनके पैर का टखना भी किसी पुरुष को नज़र आ जाए तो इसे उस स्त्री का नैतिक विचलन माना जाता था।

यह समस्या किसी एक धर्म की न होकर विश्व के सभी धर्मों की है। कोई धर्म लिंग-भेद को समर्थन देता है, कोई जाति-भेद को तो कोई नस्ल-भेद को। यही कारण है कि धर्म पर टिकी नैतिकता से हम किसी वैज्ञानिकता या तार्किकता की उम्मीद नहीं कर सकते। पश्चिम में कार्ल मार्क्स, सिग्मंड फ्रॉयड, ऑगस्ट कॉन्ट, जॉन ड्यूवी तथा सार्त्र जैसे चिंतकों ने तो भारत में जवाहरलाल नेहरू तथा एम.एन. राय जैसे विचारकों ने इन्हीं वजहों से धार्मिक नैतिकता के विरुद्ध धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का झंडा बुलंद किया है। धार्मिक नैतिकता की कई कमियाँ हैं जिनको आधार बनाकर उपरोक्त विचारक धर्मनिरपेक्ष नैतिकता अपनाने की बात करते हैं। धार्मिक नैतिकता की पहली कमी यह है कि यह हर धर्म के अनुयायियों के लिये अलग-अलग है और कई मामलों में तो परस्पर विरोधी भी है। उदाहरण के लिये, एक जैन व्यक्ति के लिये पशु हिंसा अक्षम्य पाप है जबकि एक शाक्त हिंदू या किसी मुसलमान के लिये पशु हिंसा धार्मिक कर्मकांडों का अनिवार्य हिस्सा है। ऐसे में धार्मिक नैतिकता जगत के सभी मनुष्यों को यह बताने में असमर्थ रहती है कि कौन-सा कृत्य नैतिक है और कौन-सा अनैतिक? धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का पहला दावा यही है कि नैतिकता के नियम इतने वस्तुनिष्ठ और सार्वभौमिक होने चाहियें कि दुनिया का हर व्यक्ति एक कृत्य के बारे में एक-सी राय रख सके। उदाहरण के लिये, सभी मनुष्यों को बराबर मानने के कारण धर्मनिरपेक्ष नैतिकता हर उस व्यवस्था का विरोध करती है जो लिंग-भेद, जाति-भेद या नस्ल-भेद के पक्ष में है, चाहे कई धर्म उनमें से कुछ भेदभावों का समर्थन करते हों। इसलिये एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति जन्म से हिंदू होकर भी जाति व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर सकता और जन्म से मुसलमान होकर भी बकरीद और मुहर्रम पर अंध आस्था का प्रदर्शन नहीं कर सकता।

धार्मिक नैतिकता की दूसरी समस्या यह है कि वह समय के साथ खुद को आसानी से बदल नहीं पाती। संभव है कि हर धार्मिक परंपरा किसी-न-किसी समय की तात्कालिक ज़रूरतों की पूर्ति के लिये अस्तित्व में आई हो, पर यह भी सही है कि बहुत सी परंपराएँ समय बीतने के बाद या तो अप्रासंगिक हो जाती हैं या किसी बदलाव की अपेक्षा रखती हैं। धार्मिक नैतिकताओं के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि लोग उनके मूल कारण को भूल जाते हैं और आँख बंद करके उनके कर्मकांडीय पक्ष का अनुपालन करते रहते हैं। उदाहरण के लिये, हम सब जानते हैं कि दीपावली के दिन बहुत अधिक प्रदूषण होता है जो हमारे लिये घातक है; किंतु यह जानने के बावजूद हम दीपावली मनाने के तरीके बदल नहीं पाते क्योंकि धर्म से जुड़े होने के कारण वे हमारे संस्कारों में बुरी तरह से बस चुके हैं। धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का दावा यही है कि नैतिक नियम हर देश-काल की अपेक्षा के अनुसार बनते और बदलते रहने चाहियें।

DOEACCS

Scanned by CamScanner

धार्मिक नैतिकता के विरोध और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के समर्थन में एक तीसरा तर्क भी है जिसकी बहुत प्रभावशाली व्याख्या एक उपयोगितावादी विचारक पैट्रिक नॉवेल स्मिथ ने की है। उनका तर्क है कि धार्मिक नैतिकता में आमतौर पर कार्य के परिणाम से ज़्यादा महत्त्व रूढ़ नियमों को दिया जाता है जबकि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता उपयोगितावादी विचारधारा को स्वीकार करती है जिसमें नैतिक नियमों से ज़्यादा महत्त्व इस बात का होता है कि कार्य का परिणाम समाज के अधिकतम हित में होना चाहिये। स्मिथ का दावा है कि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता परिणामों पर बल देने के कारण सही-गलत की पहचान बेहतर तरीके से कर पाती है जबकि धार्मिक नैतिकता रूढ़ नियमों का अंधानुकरण करने के कारण स्थितियों के अनुसार खुद को समायोजित नहीं कर पाती।

अब अगर निष्कर्ष के रूप में यह तय करना हो कि कौन-सी नैतिकता अधिक सशक्त है, तो इसका निर्धारण किसी एक पक्ष में झुक कर नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों की अपनी-अपनी शक्तियाँ और कमज़ोरियाँ साफ देखी जा सकती हैं। धार्मिक नैतिकता की सबसे बड़ी शक्ति उसकी मज़बूती में छिपी है। धार्मिक मूल्य व्यक्ति के अवचेतन मन में संस्कारों के स्तर पर इस तरह बैठ जाते हैं कि जटिल-से-जटिल परिस्थिति में भी व्यक्ति नैतिक विचलन का शिकार नहीं होता। इसकी दूसरी शक्ति यह है कि चूँकि इसमें नियम निश्चित होते हैं, इसलिये व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं होती कि वह हर स्थिति में गुणा-भाग करके खुद तय करे कि कौन-सा विकल्प नैतिक है और कौन-सा अनैतिक? यानी इस नैतिकता में निश्चितता होती है, संदेह की गुंजाइश नहीं होती। पर इस नैतिकता की सबसे गंभीर समस्या यह है कि इसमें रूढ़िवादी होने की प्रबल संभावना रहती है। यह एक धार्मिक समूह द्वारा दूसरे धार्मिक समूह के विरुद्ध किये जाने वाले हिंसक कृत्यों को भी नैतिक ठहरा सकती है, यहाँ तक कि सामान्य बुद्धि से समझ में आने वाले घोर अनैतिक कार्यों को भी धार्मिक आदेशों के नाम पर ज़िंदा बनाए रखती है।

धर्मनिरपेक्ष नैतिकता की भी अपनी खूबियाँ और सीमाएँ हैं। इसकी खूबी यह है कि यह समय और स्थान के साथ मानव-हित के अनुरूप परिवर्तनशील होती है और रूढ़िवाद का दामन नहीं थामती। यह भी अच्छी बात है कि यह प्रत्येक व्यक्ति को विवेकशील व तार्किक मानकर उसे सम्मान देती है। पर इस धारणा में भी बहुत-सी कमियाँ हैं। पहली कमी यह है कि वह समाज के चुनिंदा बुद्धिमान लोगों को भले ही समझ आ जाए, समाज के सामान्य व्यक्ति के मन को नहीं छू पाती। सामान्य व्यक्ति बार-बार नैतिकता के जटिल निर्णयों की प्रक्रिया में नहीं उलझना चाहता। वह तो ऐसी सीधी-सादी नैतिक व्यवस्था चाहता है जो उसके कृत्यों को दो टूक तरीके से नैतिक या अनैतिक में वर्गीकृत कर दे। यह सुविधा उसे धार्मिक नैतिकता में ही मिलती है, धर्मनिरपेक्ष नैतिकता में नहीं। दूसरी समस्या यह है कि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता में वह ताकत और मज़बूती नहीं है कि इसके भरोसे व्यक्ति बड़े-से-बड़े लालच और खतरे से टकरा सके। बुद्धि पर टिकी हुई यह नैतिकता हर कमज़ोर क्षण में विचलन के खतरे को छूती है क्योंकि बुद्धि मन की हर इच्छा के पक्ष में तर्क गढ़ने में सक्षम है और नाजुक क्षणों में ऐसे तर्क व्यक्ति को भटकने की सुविधा देते हैं। इसलिये, जॉर्ज मैवरोड्स की भाषा में कहें तो धर्मनिरपेक्ष नैतिकता इस सवाल का उत्तर नहीं दे पाती कि कोई व्यक्ति हर स्थिति में नैतिक क्यों रहे?

समस्या यही है कि दोनों विकल्प अधूरे हैं। निकट भविष्य में इस बात की संभावना नज़र नहीं आती कि समाज के अधिकांश लोग स्वेच्छा से धर्म को खारिज करके धर्मनिरपेक्ष हो जाएंगे। इसलिये, कुछ धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति उस नैतिकता के आधार पर जीवन जी भी लें तो उससे पूरे समाज की नैतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि समाज के अधिकांश व्यक्ति किस नैतिक व्यवस्था का अनुसरण करेंगे? अब चूँकि आम आदमी को धार्मिक नैतिकता ही समझ आती है, इसलिये आवश्यक है कि हम उसे भी स्वीकार करें; पर कोशिश करें कि उसमें तार्किकता और वैज्ञानिकता को शामिल करने की प्रक्रिया हर समय चलती रहे। हर धर्म के प्रगतिशील व्यक्तियों को चाहिये कि वे अपने धर्म के रूढ़िवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाएँ और उन धार्मिक परंपराओं का विरोध करें जो आज की नैतिक ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकती हैं। उदाहरण के लिये, हिंदू बुद्धिजीवी दहेज-प्रथा, जाति-भेद तथा बालिका भ्रूण-हत्या का विरोध करें तथा मुसलमान बुद्धिजीवी बहुविवाह और बुरके का विरोध करें। अगर यह प्रक्रिया हमारे धार्मिक जीवन का सहज हिस्सा बन पाती है तो शायद हम नैतिकता के इन दोनों विकल्पों के मध्य ऐसा समन्वय कर पाएंगे जिससे समाज तथा व्यक्ति दोनों की नैतिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी। ■■■

DOER CLASSES

Scanned by CamScanner